

Chapter सात

भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को उपदेश

इस अध्याय में यह वर्णन हुआ है कि जब उद्धव ने भगवान् कृष्ण से यह याचना की कि उन्हें भी वे अपने धाम लेते चलें, तो कृष्ण ने उद्धव को सलाह दी कि वे संन्यास ग्रहण कर लें। किन्तु जब उद्धव ने विस्तारपूर्वक उपदेश दिये जाने के प्रति अपनी रुचि प्रकट की, तो भगवान् ने उन्हें *अवधूत* के २८ गुरुओं का वृत्तान्त सुनाया।

उद्धव की यह याचना सुनकर कि वे उन्हें अपने साथ वैकुण्ठ लेते जाँय, भगवान् कृष्ण ने उन्हें बतलाया कि वे अपने निजी धाम जाने के इच्छुक इसलिए हैं, क्योंकि उनके अवतार का प्रयोजन पूरा हो चुका है और कलियुग के संकट शीघ्र ही पृथ्वी पर छाने वाले हैं। इसलिए उन्होंने उद्धव को सलाह दी कि वे अपने मन को उन पर एकाग्र करके सांख्य योग (सैद्धान्तिक और अनुभूत दिव्य ज्ञान) में अपने को स्थापित करके संन्यास अंगीकार कर लें। भगवान् ने यह भी आदेश दिया कि कल्मष द्वारा अस्पृश्य रहते हुए और सभी जीवों पर दयाभाव रखते हुए, वे इस नश्वर जगत में विचरण करना शुरू करें, जो भगवान् की माया और जीव की कल्पना का मिश्रित प्राकट्य मात्र है।

तब उद्धव ने कहा कि वैराग्य की भावना से भौतिक वस्तुओं का परित्याग सर्वोच्च मंगल का स्रोत है, किन्तु ऐसा वैराग्य प्राप्त करना भगवद्भक्तों के अतिरिक्त अन्य जीवों के लिए अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं। उद्धव ने कुछ और उपदेश की आवश्यकता

जताई, जिससे उन मूर्ख व्यक्तियों को, जो शरीर को धोखे में आत्मा मान बैठते हैं, आश्चस्त किया जा सके कि वे भगवान् के आदेशों के अनुसार अपना कर्तव्य निभायें। ब्रह्मा जैसे महान् देवता तक पूरी तरह से भगवान् के शरणागत नहीं हैं, किन्तु उद्धव ने यह घोषित किया कि उन्होंने समस्त जीवों के एकमात्र असली मित्र तथा वैकुण्ठ के सर्वज्ञ स्वामी तथा परम सत्य के एकमात्र असली उपदेशक भगवान् नारायण की शरण ग्रहण कर ली है। यह सुनकर भगवान् ने उत्तर दिया कि वस्तुतः *जीवात्मा* ही अपना गुरु है। सारे जीव इस शरीर के भीतर सकारात्मक तथा नकारात्मक विधियों से परमेश्वर को खोज सकते हैं और अन्त में उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए भगवान् को मनुष्य-जीवन अत्यन्त प्रिय है। इस सन्दर्भ में भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण अवधूत तथा महाराज यदु के बीच हुई पुरानी वार्ता बतलानी शुरू कर दी।

एक बार ययाति-पुत्र महाराज यदु की भेंट एक *अवधूत* से हुई, जो अत्यन्त दिव्य भाव में मग्न होकर इधर-उधर विचरण कर रहा था और सनकी जैसे कार्य कर रहा था, मानो वह भूत-प्रेत द्वारा सताया व्यक्ति हो। राजा ने उस पवित्र व्यक्ति से उसके विचरण करने तथा उसकी आनन्दावस्था के विषय में पूछा। अवधूत ने उत्तर दिया कि उसने २४ विभिन्न गुरुओं से—यथा पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि इत्यादि से शिक्षाएँ प्राप्त की हैं। वह उनसे ज्ञान प्राप्त करने के ही कारण मुक्त भाव से पृथ्वी पर विचरण करने में समर्थ है।

उसने पृथ्वी से सीखा कि किस तरह गम्भीर बना जाय। उसने पृथ्वी के दो रूपों, पर्वत तथा वृक्ष, से यह सीखा कि किस तरह अन्यो की सेवा की जाय और किस तरह परोपकार हेतु अपना जीवन अर्पित कर दिया जाय। शरीर के भीतर प्राण-वायु के रूप में प्रकट वायु से उसने यह सीखा कि किस तरह अपने को जीवित रखने मात्र से सन्तुष्ट रहा जाय। उसने बाह्य वायु से यह सीखा कि किस तरह शरीर तथा इन्द्रिय-विषयों से अकलुषित रहा जाय। आकाश से उसने यह सीखा कि सभी भौतिक वस्तुओं में व्याप्त आत्मा अविभाज्य तथा अदृश्य है। जल से उसने यह सीखा कि किस तरह प्राकृतिक रूप से स्वच्छ तथा शुद्ध रहा जाय। अग्नि से उसने यह सीखा कि किस तरह मलिन हुए बिना सभी वस्तुओं को निगल लिया जाय और किस तरह उन लोगों की अशुभ इच्छाओं को नष्ट किया जाय, जो उसे भेंटें देते हैं। अग्नि से उसने यह भी सीखा कि किस तरह आत्मा हर शरीर में प्रवेश करता है और

प्रकाश प्रदान करता है और किस तरह देहधारियों के जन्म तथा मृत्यु का पता नहीं लगाया जा सकता। चन्द्रमा से उसने यह सीखा कि भौतिक देह किस तरह बढ़ता-घटता है। सूर्य से उसने यह सीखा है कि इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क में आने पर भी किस तरह उनमें लिप्त होने से बचना चाहिए। उसने अनुभूति की वे दो विधियाँ भी सीखीं, जो आत्मा के असली रूप को देखने तथा मिथ्या उपाधिवाले आवरणों को देखने पर आधारित हैं। कबूतर से उसने यह सीखा कि अत्यधिक स्नेह तथा अत्यधिक अनुरक्ति अच्छे नहीं हैं। यह मानव-शरीर मुक्ति के लिए खुला द्वार है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति कबूतर की तरह अपने परिवार में लिप्त रहता है, तो उसकी तुलना उस व्यक्ति से की जाती है, जो किसी उच्च स्थान पर पुनः नीचे गिरने के लिए चढ़ा हो।

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे ।

ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यत्—जो कुछ; आत्थ—आपने कहा; माम्—मुझसे; महा-भाग—हे अत्यन्त भाग्यशाली उद्धव; तत्—वह; चिकीर्षितम्—जिसे मैं करने का इच्छुक हूँ; एव—निश्चय ही; मे—मेरा; ब्रह्मा—ब्रह्मा; भवः—शिव; लोक-पालाः—सारे लोकों के नायक; स्वः-वासम्—वैकुण्ठ धाम; मे—मेरा; अभिकाङ्क्षिणः—वे इच्छा कर रहे हैं।

भगवान् ने कहा : हे महाभाग्यशाली उद्धव, तुमने इस पृथ्वी पर से यदुवंश को समेटने की तथा वैकुण्ठ में अपने धाम लौटने की मेरी इच्छा को सही सही जान लिया है। इस तरह ब्रह्मा, शिव तथा अन्य सारे लोक-नायक, अब मुझसे प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं अपने वैकुण्ठ-धाम वापस चला जाऊँ।

तात्पर्य : इसी भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर स्वर्गलोक में प्रत्येक देवता का अपना निवासस्थान है। यद्यपि कभी कभी भगवान् विष्णु की गिनती देवताओं में की जाती है, किन्तु उनका धाम वैकुण्ठ में है। सारे देवता माया के साम्राज्य के अन्तर्गत विश्व के नियामक हैं, किन्तु विष्णु तो माया तथा अन्य अनेक आध्यात्मिक शक्तियों के स्वामी हैं। उनका भव्य निवासस्थान उनकी अकिंचन दासी माया के साम्राज्य के भीतर स्थित नहीं है।

भगवान् विष्णु समस्त देवों के देव हैं अन्य देवता उनके भिन्नांश हैं। सारे देवता क्षुद्र जीव आत्मा होने के कारण मायाशक्ति के वशीभूत रहते हैं, किन्तु भगवान् विष्णु माया के परम नियन्ता हैं। भगवान्

सारे जगत के मूल तथा आगार हैं और यह भौतिक जगत उनके नित्य आध्यात्मिक निवासस्थान के तेजोमय दृश्य की धुंधली झलक मात्र है, जहाँ हर वस्तु अतीव सुन्दर एवं आनन्ददायक है। विष्णु परम सत्य हैं और कोई जीव न तो उनके समान हो सकता है, न ही उनसे बढ़कर। भगवान् अपनी ही अद्वितीय कोटि के भीतर रहा करते हैं, जिसे *विष्णुतत्त्व* कहते हैं। अन्य सारे प्रधान या असाधारण जीव भगवान् से ही अपनी शक्ति तथा पद प्राप्त करते हैं। अन्ततः विष्णु स्वयं में भगवान् कृष्ण के स्वांश हैं, जो कि समस्त विष्णुतत्त्वों तथा जीवतत्त्वों के मूल उद्गम हैं। इस तरह भगवान् कृष्ण सारी वस्तुओं के आधार हैं।

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः ।

यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; निष्पादितम्—सम्पन्न किया गया; हि—निश्चय ही; अत्र—इस जगत में; देव-कार्यम्—देवताओं के लाभ के लिए कार्य; अशेषतः—पूर्णतया, करने को कुछ भी शेष नहीं रहा; यत्—जिसके; अर्थम्—हेतु; अवतीर्णः—अवतरित हुआ; अहम्—मैं; अंशेन—अपने स्वांश, बलदेव सहित; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; अर्थितः—प्रार्थना किये जाने पर।

ब्रह्माजी द्वारा प्रार्थना करने पर मैंने इस संसार में अपने स्वांश बलदेव सहित अवतार लिया था और देवताओं की ओर से अनेक कार्य सम्पन्न किये। अब यहाँ पर मैं अपना मिशन पूरा कर चुका हूँ।

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात् ।

समुद्रः सप्तमे ह्येनां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

कुलम्—यह यदुवंश; वै—निश्चित रूप से; शाप—शाप से; निर्दग्धम्—समाप्त; नङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जायेगा; अन्योन्य—परस्पर; विग्रहात्—झगड़े से; समुद्रः—समुद्र; सप्तमे—सातवें दिन; हि—निश्चय ही; एनाम्—इस; पुरीम्—नगरी को; च—भी; प्लावयिष्यति—आप्लावित कर देगा।

अब ब्राह्मणों के शाप से यह यदुवंश निश्चित रूप से परस्पर झगड़ कर समाप्त हो जायेगा और आज से सातवें दिन यह समुद्र उफन कर इस द्वारका नगरी को आप्लावित कर देगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में तथा इसके बाद के श्लोकों में भगवान् कृष्ण उद्धव को संकेत देते हैं कि वे तुरन्त ही भौतिक जगत से अपनी सारी पहचान त्याग कर अपने को तुरन्त आत्म-साक्षात्कार में एकाग्र कर लें। श्रील जीव गोस्वामी ने लिखा है कि वास्तव में यदुवंश का विनाश कृष्ण द्वारा नहीं

हुआ, अपितु ब्राह्मणों के शाप से वह इस जगत की दृष्टि से ओझल हो गया। इसी प्रकार भगवान् का नित्य धाम द्वारका कभी भी समुद्र द्वारा डुबोया नहीं जा सकता। इतने पर भी इस दिव्य नगरी तक पहुँचने वाले बाह्य मार्ग समुद्र से ढक चुके थे। इस तरह भगवान् का धाम कलियुग में मूर्ख लोगों की पहुँच के बाहर रहता है जैसाकि इस स्कन्ध में बाद में बतलाया जाएगा।

भगवान् अपनी योगमाया द्वारा अपने रूप, धाम, साज-सामग्री, लीला, परिकर इत्यादि को प्रकट करते हैं और उपयुक्त समय पर वे इन सारी वस्तुओं को हमारी सांसारिक दृष्टि से ओझल कर देते हैं। यद्यपि मोहग्रस्त बद्धजीव भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति में सन्देह कर सकते हैं, किन्तु शुद्ध भक्तगण उनके दिव्य प्राकट्य तथा तिरोधान की प्रत्यक्ष अनुभूति करके आनन्द उठा सकते हैं, जिसका वर्णन *भगवद्गीता* में *जन्म कर्म च मे दिव्यम्* के रूप में हुआ है। यदि भगवान् के दिव्य स्वभाव के इस पूर्ण ज्ञान को स्वीकार कर लिया जाय, तो मनुष्य निश्चित रूप से भगवद्धाम वापस जा सकता है और भगवान् कृष्ण का नित्य संगी बन सकता है।

यर्होवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः ।

भविष्यत्यचिरात्साधो कलिनापि निराकृतः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यर्हि—जब; एव—निश्चित रूप से; अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; त्यक्तः—छोड़ा हुआ; लोकः—संसार; अयम्—यह; नष्ट-मङ्गलः—समस्त मंगल या दया से विहीन; भविष्यति—हो जायेगा; अचिरात्—शीघ्र ही; साधो—हे साधु-पुरुष; कलिना—कल के कारण; अपि—स्वयं; निराकृतः—अभिभूत।

हे साधु उद्धव, मैं निकट भविष्य में इस पृथ्वी को छोड़ दूँगा। तब कलियुग से अभिभूत होकर यह पृथ्वी समस्त पवित्रता से विहीन हो जायेगी।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण की योजना उद्धव को कुछ समय बाद अपने ही धाम वापस ले जाने की थी। उद्धव के असाधारण आध्यात्मिक गुणों के कारण भगवान् उन्हें उन साधु-पुरुषों के बीच अपना सन्देश प्रचारित-प्रसारित करने के लिए लगाना चाहते थे, जो अभी भी भक्ति की उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे। तथापि भगवान् ने उद्धव को आश्वासित किया कि तुम क्षण-भर के लिए भी मेरी संगति से विहीन नहीं होगे। यही नहीं, चूँकि उद्धव अपनी इन्द्रियों के पूर्ण स्वामी बन चुके थे अतएव प्रकृति के तीनों गुणों से प्रघातित नहीं हो सकेंगे। इस तरह उद्धव को अपने धाम वापस ले जाने के पूर्व भगवान् ने उन्हें अपना विशिष्ट गुह्य मिशन पूरा करने का अधिकार सौंप दिया।

जहाँ-जहाँ भगवान् के सर्वोच्च पद को मान्यता नहीं दी जाती, वहाँ व्यर्थ मानसिक चिन्तन का प्राधान्य हो जाता है और पूर्ण वैदिक ज्ञान के श्रवण करने का सुरक्षित तथा निश्चित मार्ग मनोरथ के व्यामोह से आच्छादित हो जाता है। सम्प्रति विशेषकर पाश्चात्य देशों में हजारों विषयों पर लाखों पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, तो भी मनोकल्पनाओं की वृद्धि होने पर भी लोग मानव-जीवन की मूलभूत समस्याओं के बारे में अज्ञानी बने रहते हैं। जैसे—मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? मैं कहाँ जा रहा हूँ? मेरी आत्मा क्या है? ईश्वर क्या है?

भगवान् श्रीकृष्ण असंख्य मनोहारी लीलाओं के आगार हैं। इस तरह वे असंख्य प्रकार के आनन्द के स्रोत हैं। वस्तुतः वे नित्य आनन्द के सागर हैं। जब नित्य आत्मा भगवान् की प्रेमाभक्ति से मिलने वाले स्वाभाविक आनन्द से विहीन हो जाता है, तो भौतिक प्रकृति उसे मोहित कर लेती है। वह असहाय होकर इन्द्रियतृप्ति का पीछा, यह सोच कर करता है कि यह वस्तु अच्छी है और वह वस्तु खराब है। इस तरह वह अच्छे-बुरे का अपना मूल्यांकन बदलता रहता है, जिससे उसे सुख या शान्ति नहीं मिलती, वह निरन्तर चिन्तित रहता है और जन्म-मृत्यु, जरा तथा रोग के रूप में प्रकृति के क्रूर नियमों से बारम्बार प्रताड़ित होता रहता है।

इस तरह से बद्धजीव कलियुग में जन्म लेने का सही पात्र बन जाता है, जो कि दुर्भाग्य का प्रतीक है। कलियुग में पहले से अनेक कष्टों से पीड़ित जीव एक-दूसरे के प्रति निर्दय बन जाते हैं। कलियुग में मानव-समाज असभ्य तरह से हिंसक बन जाता है। मनुष्य लाखों निरीह प्राणियों का वध करने के लिए कसाई-खाने खोलते हैं। बड़े पैमाने पर युद्धों की घोषणा होती है और लाखों मनुष्य, यहाँ तक स्त्रियाँ और बच्चे भी शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं।

जब तक जीव भगवान् की सत्ता को मान नहीं लेता, तब तक वह माया के पाश में असहाय बना रहता है। माया से अपने को छुड़ाने के लिए वह अनेक मनगढंत समाधान ढूँढ़ता है, किन्तु ये समाधान भी माया द्वारा रचित होते हैं, अतएव बद्धजीव संभवतः अपने को छुड़ा नहीं पाता। वस्तुतः इनसे उसका कष्ट बढ़ता है। अगले श्लोक में भगवान् कृष्ण उद्धव को कलियुग से बचने और भगवद्धाम जाने की विशेष चेतावनी देते हैं। हममें से वे लोग, जो कलियुग में जन्म ले चुके हैं, उन्हें भी इस उपदेश पर

ध्यान देकर भगवान् के सच्चिदानन्द धाम वापस जाने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाने चाहिए। यह भौतिक जगत कभी भी, विशेषतया कलियुग के भयाक्रान्त दिनों में, सुखी स्थान नहीं रहा।

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।

जनोऽभद्ररुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वस्तव्यम्—रहे आना चाहिए; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—निश्चय ही; इह—इस जगत में; मया—मेरे द्वारा; त्यक्ते—त्यागे हुए; महीतले—पृथ्वी पर; जनः—लोग; अभद्र—पापी, अशुभ वस्तुएँ; रुचिः—लिप्त; भद्र—हे पापरहित एवं मंगलमय; भविष्यति—हो जायेगा; कलौ—इस कलि; युगे—युग में।

हे उद्धव, जब मैं इस जगत को छोड़ चुकूँ, तो तुम्हें इस पृथ्वी पर नहीं रहना चाहिए। हे प्रिय भक्त, तुम निष्पाप हो, किन्तु कलियुग में लोग सभी प्रकार के पापपूर्ण कार्यों में लिप्त रहेंगे, अतएव तुम्हें यहाँ नहीं रुकना चाहिए।

तात्पर्य : इस कलिकाल में मनुष्य इस बात से नितान्त अनभिज्ञ रहते हैं कि भगवान् अपनी दिव्य लीलाएँ उसी रूप में प्रदर्शित करने के लिए पृथ्वी पर आते हैं, जिस रूप में ये लीलाएँ स्वर्ग में सम्पन्न की जाती हैं। भगवान् की सत्ता की परवाह न करते हुए कलियुग के पतित जन कटु कलह में फँस कर एक-दूसरे को सताते हैं। चूँकि कलियुग में लोग दूषित पापपूर्ण कार्यों में लिप्त रहते हैं, इसलिए वे सदैव क्रुद्ध, कामी तथा उद्विग्न रहते हैं। कलियुग में भगवद्भक्तों को, जो भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे हुए हैं, चाहिए कि इस पृथ्वी पर जीवन बिताने के लिए कभी आकृष्ट न हों, क्योंकि इसकी जनता अज्ञान के अंधकार में डूबी हुई है और भगवान् से किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं रखती। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने उद्धव को सलाह दी कि वे कलियुग में इस पृथ्वी पर न रहें। वस्तुतः भगवान् ने *भगवद्गीता* में सारे जीवों को सलाह दी है कि वे किसी भी युग में इस भौतिक विश्व में कहीं भी न रहें। इसलिए हर जीव को कलियुग के दबावों का लाभ उठाकर भौतिक जगत की व्यर्थ-प्रकृति को समझने और स्वयं को भगवान् के चरणकमलों में समर्पित करने का लाभ उठाना चाहिए। श्री उद्धव के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण की शरण ग्रहण करे और भगवद्धाम वापस जाय।

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु ।

मध्यावेश्य मनः संयक्समदृग्विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—वस्तुतः; सर्वम्—समस्त; परित्यज्य—छोड़ कर; स्नेहम्—स्नेह; स्व-जन-बन्धुषु—अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों के प्रति; मयि—मुझ भगवान् में; आवेश्य—एकाग्र करके; मनः—मन को; संयक्—पूरी तरह; सम-दृक्—हर एक को समान दृष्टि से देखते हुए; विचरस्व—विचरण करो; गाम्—पृथ्वी-भर में।

अब तुम्हें चाहिए कि अपने निजी मित्रों तथा सम्बन्धियों से अपने सारे नाते त्याग कर, अपने मन को मुझ पर एकाग्र करो। इस तरह सदैव मेरी भावना से भावित होकर, तुम्हें सारी वस्तुओं को समान दृष्टि से देखना चाहिए और पृथ्वी-भर में विचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रीमद् वीरराघव आचार्य ने समदृष्टि की व्याख्या इस प्रकार की है—*सम-दृक् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वानुसन्धान-रूप-सम-दृष्टिमान्*—आत्म-साक्षात्कार के पथ पर चलने वाले को सारे जगत की अनन्तिम आध्यात्मिक प्रकृति को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस श्लोक में *मयि* शब्द का अर्थ है *परमात्मनि*। मनुष्य को अपना मन भगवान् में एकाग्र करना चाहिए, जो कि समस्त वस्तुओं के स्रोत हैं। इस तरह अपने लिए नियत समय का उपयोग करते हुए, इस पृथ्वी पर अपना जीवन बिताकर मनुष्य को चाहिए कि सारी वस्तुओं तथा सारे लोगों को परम सत्य भगवान् के भिन्नांश रूप में देखने की आदत डाले। चूँकि सारे जीव कृष्ण के भिन्नांश हैं, अतएव उन सबों का अन्ततः एक-सा आध्यात्मिक स्वरूप है। प्रकृति भी कृष्ण से उद्भूत होने से समान आध्यात्मिक पद को प्राप्त रहती है। यद्यपि पदार्थ तथा आत्मा दोनों ही भगवान् से उद्भूत हैं, किन्तु वे पूरी तरह से समान स्तर पर नहीं हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि आत्मा भगवान् की पराशक्ति है, जबकि प्रकृति अपरा शक्ति है। किन्तु चूँकि कृष्ण सभी वस्तुओं में समान रूप से उपस्थित रहते हैं, अतएव इस श्लोक में *सम-दृक्* शब्द यह सूचित करता है कि मनुष्य को चाहिए कि हर वस्तु के भीतर कृष्ण को और कृष्ण के भीतर हर वस्तु को देखे। इस तरह समदृष्टि का मेल इस भौतिक जगत में अनेकता के परिपक्व ज्ञान से होता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है : “इस पृथ्वी पर व्यक्त अपनी लीलाओं की समाप्ति पर भगवान् कृष्ण ने अपने मन में इस प्रकार सोचा, “इस पृथ्वी पर अपनी लीलाओं के समय मैंने अपने उन भक्तों की सारी इच्छाएँ पूरी कर दी हैं, जो मेरा दर्शन पाने के उत्कण्ठापूर्वक इच्छुक थे। मैंने रुक्मिणी सहित, जिसका मैंने स्वयं परिहरण किया था, कई हजार रानियों से विवाह किया है और अनेक स्थानों तथा अनेक उपायों से मैंने असंख्य असुरों का वध किया

है, मैंने वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, हस्तिनापुर तथा मिथिला जैसे नगरों में अनेक सभाओं, मेल-मिलापों तथा मित्रों, सम्बन्धियों एवं हितैषियों के साथ उत्सवों में भाग लिया है। इस तरह लीलाओं को सम्पन्न करने में इधर-उधर दौड़-धूप में मैंने निरंतर अपने को व्यस्त रखा है।”

इसके अतिरिक्त भी मैंने पृथ्वी-लोक के नीचे स्थित अपने बड़े बड़े भक्तों को अपना सान्निध्य प्रदान करने की व्यवस्था की है। अपनी माता देवकी को प्रसन्न करने के लिए तथा कंस द्वारा मारे गये उनके छहों पुत्रों को वापस लाने के लिए मैं सुतल लोक तक गया हूँ और मैंने अपने महान् भक्त बलि महाराज को आशीर्वाद दिया है। अपने गुरु सान्दीपनि मुनि के मृत पुत्र को वापस लाने के लिए मैं स्वयं रविनन्दन यमराज के दरबार में गया, जिससे वह मेरा साक्षात्कार कर सका। मैंने स्वर्ग के निवासियों को, यथा माता अदिति तथा कश्यप मुनि को तब अपने सान्निध्य से कृतज्ञ किया, जब मैंने अपनी पत्नी सत्यभामा के लिए पारिजात पुष्प चुराने के लिए वहाँ की यात्रा की थी। महाविष्णु के धाम के निवासियों, यथा नारद, सुनन्द तथा सुदर्शन को प्रसन्न करने के उद्देश्य से मैंने क्षुब्ध ब्राह्मण के मृत पुत्रों को लाने के लिए महावैकुण्ठ-लोक की यात्रा की। इस तरह उन असंख्य भक्तों को उनकी प्रार्थनाओं का लक्ष्य प्राप्त हुआ, जो मुझे देखने के लिए अत्यधिक उत्सुक थे।

“दुर्भाग्यवश नर-नारायण ऋषि तथा बदरिकाश्रम में उनके साथ रह रहे परमहंस मुनियों की इच्छाएँ पूरी नहीं हुई, यद्यपि वे मेरा दर्शन पाने के लिए अतीव उत्सुक थे। मैं पृथ्वी पर १२५ वर्षों से रहता आया हूँ और मेरा नियत समय अब समाप्त हो चुका है। अपनी लीलाओं में अति व्यस्त रहने के कारण मैं इन महामुनियों को आशीर्वाद तक नहीं दे पाया। तो भी, उद्धव मेरे ही समान है। वह महान् भक्त है और मेरे दिव्य ऐश्वर्य में हाथ बँटाता है। अतएव बदरिकाश्रम भेजने के लिए यही व्यक्ति उपयुक्त है। मैं उद्धव को वह पूर्ण ज्ञान दूँगा, जिससे मनुष्य भौतिक जगत से विरक्त हो जाता है और फिर वह माया के संसार को लाँघने वाले इस ज्ञान को, बदरिकाश्रम के सुयोग्य मुनियों को प्रदान कर सकता है। इस तरह वह उन्हें मेरे चरणकमलों पर प्रेमाभक्ति करने की विधि सिखला सकता है। ऐसी भक्ति अमूल्य निधि है और ऐसा ज्ञान सुनकर नर-नारायण जैसे महामुनियों की इच्छाएँ पूर्ण हो सकेंगी।”

“जो महान् आत्माएँ मेरी शरण में आ चुकी हैं, वे सदैव दिव्य ज्ञान से युक्त और भौतिक जगत से विरक्त रहती हैं। कभी कभी अपनी भक्ति में लीन रहने के कारण वे मुझे विस्मरण करती प्रतीत हो

सकती हैं। किन्तु वह शुद्ध भक्त, जिसने मेरे शुद्ध प्रेम के पद को पा लिया है, ऐसी निष्ठावान भक्ति से सदैव सुरक्षा पाता रहेगा। यदि ऐसा भक्त मुझमें अपना ध्यान एकाग्र करने की उपेक्षा करते हुए अपना प्राण छोड़ देता है, तो भी ऐसे भक्त की प्रेममयी भावनाएँ इतनी शक्तिशाली होती हैं कि वे उसे सारी सुरक्षा प्रदान करती हैं। यदि क्षणिक विस्मृति हो भी जाय, तो ऐसी भक्ति उस भक्त को मेरे चरणकमलों पर लायेगी, जो सामान्य भौतिकतावादी व्यक्तियों की दृष्टि से परे हैं। उद्धव मेरा शुद्ध भक्त है। मेरा ज्ञान तथा इस संसार से विरक्ति का उसमें पुनः उद्रेक हुआ है, क्योंकि वह कभी भी मेरी संगति नहीं छोड़ सकता।”

चैतन्य महाप्रभु के निष्ठावान सेवक इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अपने गुरु तथा भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता हेतु प्रसारित करने में बड़े जोर-जोर से प्रयत्नशील हैं। सम्प्रति कृष्णभावनामृत आन्दोलन में हजारों भक्त विश्व के सभी भागों में दिव्य साहित्य का वितरण करने तथा सामान्य लोगों को प्रबुद्ध करने के लिए विषम परिस्थितियों में काफी समय तक कार्य करते रहते हैं। इस प्रयास में भक्तों का अपना कोई स्वार्थ नहीं है, अपितु वे अपने गुरु की पुस्तकें वितरित करके केवल उन्हें प्रसन्न करने के इच्छुक हैं। जो लोग इस साहित्य को प्राप्त करते हैं, उन्हें कृष्णभावनामृत का पहले से प्रायः कोई अनुभव नहीं होता, फिर भी वे लोग भक्तों की शुद्धता देख कर इतने प्रभावित होते हैं कि वे उत्सुकतापूर्वक पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ खरीद लेते हैं। कृष्णभावनामृत के कठिन कार्य को सम्पन्न करने के उद्देश्य से भक्तगण अहर्निश अथक परिश्रम करते हैं, क्योंकि वे प्रेमाभक्ति के पद को प्राप्त हैं। भले ही ऐसे व्यस्त भक्तगण कभी कभी कृष्ण के चरणकमलों के विषय में प्रत्यक्ष रूप से नहीं भी सोचते हों, किन्तु ऐसी प्रेमाभक्ति उन्हें कृष्ण के चरणकमलों में वापस ले जायेगी और भगवान् उनकी सेवा से प्रसन्न होकर स्वयं ही उन्हें अपने अटल ध्यान में लगा लेंगे। भक्तियोग की यही विशेषता है, जो सर्व-दयालु भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा पर पूर्णतया निर्भर है। भौतिक भोग की गहन इच्छाओं को समूल नष्ट करने, कृष्ण के प्रति शुद्ध प्रेम प्राप्त करने तथा भौतिक ब्रह्माण्ड से परे भगवद्धाम जाने का एकमात्र यही पूर्णतया सुरक्षित उपाय है। *भगवद्गीता* (२.४०) में कहा गया है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

इस श्लोक में कृष्ण ने उद्धव को इस जगत में अपने तथाकथित मित्रों तथा अपने परिवार के प्रति भ्रामक लगाव त्यागने की भी सलाह दी। भले ही मनुष्य शारीरिक रूप से अपने परिवार तथा मित्रों का संग त्याग पाने में समर्थ न हो, किन्तु उसे यह समझना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीव ईश्वर का भिन्नांश है और वह ईश्वर के आनन्द के निमित्त है। ज्योंही मनुष्य सोचता है कि “यह मेरा परिवार है” त्योंही वह इस जगत को पारिवारिक जीवन की भोग-स्थली मान बैठता है। अपने तथाकथित परिवार से जुड़ते ही, उसमें झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक स्वामित्व का उदय होता है। वस्तुतः हर व्यक्ति ईश्वर का भिन्नांश है, अतएव आध्यात्मिक स्तर पर वह अन्य समस्त जीवों से सम्बन्धित है, यह कृष्ण-सम्बन्ध कहलाता है। सर्वोच्च आध्यात्मिक जागरूकता तक पहुँच पाना और साथ ही समाज, मैत्री तथा प्रेम की क्षुद्र भौतिक संकल्पना को बनाये रख पाना सम्भव नहीं है। मनुष्य को सारे सम्बन्धों का अनुभव उच्चतर आध्यात्मिक स्तर पर करना चाहिए, जो कृष्ण-सम्बन्ध का स्तर है और जिसका अर्थ है, हर वस्तु को भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित देखना।

जो कृष्ण के साथ अपने स्वाभाविक सम्बन्धों में स्थित है, वह सारी वस्तुओं को कृष्ण के साथ जोड़कर देखता है। इस तरह वह शरीर, मन तथा वाणी की सांसारिक इच्छाओं को त्याग देता है और भगवद्भक्त के रूप में पृथ्वी-भर में यात्रा करता है। ऐसा उच्च पुरुष गोस्वामी कहलाता है। भगवद्गीता (१८.५४) में इस अवस्था को ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा शब्दों द्वारा बतलाया गया है।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।

नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; इदम्—इस जगत को; मनसा—मन से; वाचा—वाणी से; चक्षुर्भ्याम्—आँखों से; श्रवण-आदिभिः—कानों तथा अन्य इन्द्रियों से; नश्वरम्—क्षणिक; गृह्यमाणम्—जिसे स्वीकार या अनुभव किया जा रहा हो; च—तथा; विद्धि—तुम्हें जानना चाहिए; माया-मनः-मयम्—माया के प्रभाव से इसे असली करके केवल कल्पित किया जाता है।

हे उद्धव, तुम जिस ब्रह्माण्ड को अपने मन, वाणी, नेत्रों, कानों तथा अन्य इन्द्रियों से देखते हो वह भ्रामक सृष्टि है, जिसे माया के प्रभाव से मनुष्य वास्तविक मान लेता है। वास्तव में, तुम्हें यह जानना चाहिए कि भौतिक इन्द्रियों के सारे विषय क्षणिक हैं।

तात्पर्य : यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब संसार-भर में अच्छे तथा बुरे गुण पाये जाते हैं, तो भगवान् कृष्ण किस तरह उद्धव को सारी वस्तुओं को समान रूप से देखने की सलाह देते हैं? इस

श्लोक में कृष्ण बतलाते हैं कि भौतिक अच्छाई तथा बुराई माया की सृष्टियाँ हैं, जिस तरह स्वप्न की वस्तुएँ मन की उपज हैं।

जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*वासुदेवः सर्वमिति*—भगवान् कृष्ण ही सर्वस्व हैं, क्योंकि वे हर वस्तु में विद्यमान रहते हैं और हर वस्तु उनके भीतर विद्यमान रहती है। कृष्ण *सर्वलोक-महेश्वरम्* हैं अर्थात् सारे जगतों के स्वामी हैं। किसी भी वस्तु को कृष्ण से पृथक् देखना भ्रम है और किसी भी प्रकार के भौतिक भ्रम के प्रति, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, आकृष्ट होना अन्ततः व्यर्थ है, क्योंकि इससे जीव जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमते रहने के लिए बाध्य होता है।

देखना, सुनना, सूँघना, आस्वादन करना तथा स्पर्श करना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कार्य हैं। इसी तरह वाणी, हाथ, पैर, गुदा तथा लिंग पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये दस इन्द्रियाँ मन के चारों ओर व्यवस्थित हैं, जो भौतिक क्रियाशीलता का केन्द्र है। जब जीव पदार्थ का दोहन करना चाहता है, तो वह प्रकृति के तीन गुणों से आच्छादित हो जाता है। इस तरह वह वास्तविकता के बारे में विभिन्न दार्शनिक, राजनैतिक तथा सामाजिक व्याख्याएँ गढ़ता है, किन्तु वह परम सत्य भगवान् कृष्ण को, जो कि भौतिक इन्द्रियों की दूषित अनुभूति से परे हैं, कभी नहीं समझ पाता। जो व्यक्ति भौतिक उपाधियों के जाल में, यथा जाति, राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक धर्म, राजनैतिक सम्बन्ध इत्यादि में, फँसा रहता है, वह यह सोचकर अपने शरीर तथा अन्य शरीरों को भौतिक इन्द्रिय-विषयों से जोड़ने में व्यस्त रहता है कि ये इन्द्रिय-विषय सुख तथा तुष्टि के स्रोत हैं। दुर्भाग्यवश यह संसार, इसको अनुभव करने वाली इन्द्रियों समेत, एक नश्वर सृष्टि है, जो परमेश्वर की कालशक्ति द्वारा विनष्ट हो जायेगी। हमारी मूर्खतापूर्ण आशाओं तथा स्वप्नों के उपरान्त भौतिक स्तर पर कोई वास्तविक सुख नहीं है। असली सत्य न तो भौतिक है, न ही क्षणिक। असली सत्य तो *आत्मा* कहलाता है और समस्त आत्माओं में एक ही सर्वोच्च है। वह भगवान् कहलाता है और अपने मूल रूप में वह कृष्ण के रूप में विख्यात है। कृष्ण के अचिन्त्य दिव्य रूप की अनुभूति के साथ ही ज्ञान-संग्रह की विधि का अन्त हो जाता है। जो व्यक्ति हर वस्तु में कृष्ण को और कृष्ण में हर वस्तु का अनुभव नहीं करता, वह निश्चय ही मनोरथ के धरातल पर स्थित होता है। इस श्लोक में कृष्ण उद्धव को चेतावनी देते हैं कि वे संसार के इस भ्रामक पद से बच कर रहें।

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पुंसः—व्यक्ति का; अयुक्तस्य—जिसका मन सत्य से पराङ्मुख है; नाना—अनेक; अर्थः—अर्थ; भ्रमः—सन्देह; सः—वह; गुण—अच्छाई; दोष—बुराई; भाक्—देहधारण किये; कर्म—अनिवार्य कर्तव्य; अकर्म—नियत कर्तव्यों का न किया जाना; विकर्म—निषिद्ध कर्म; इति—इस प्रकार; गुण—अच्छाइयाँ; दोष—बुराइयाँ; धियः—अनुभव करने वाले की; भिदा—यह अन्तर ।

जिसकी चेतना माया से मोहित होती है, वह भौतिक वस्तुओं के मूल्य तथा अर्थ में अनेक अन्तर देखता है। इस प्रकार वह भौतिक अच्छाई तथा बुराई के स्तर पर निरन्तर लगा रहता है और ऐसी धारणाओं से बँधा रहता है। भौतिक द्वैत में लीन रहते हुए, ऐसा व्यक्ति अनिवार्य कर्तव्यों की सम्पन्नता, ऐसे कर्तव्यों की असम्पन्नता तथा निषिद्ध कार्यों की सम्पन्नता के विषय में कल्पना करता रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में जगत के भ्रामक मानसिक स्तर का वर्णन हुआ है। *अयुक्तस्य* शब्द उस बद्धजीव का सूचक है, जो अपने मन को भगवान् पर स्थिर नहीं करता। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में स्पष्ट वर्णन हुआ है कि परम सत्य कृष्ण हर वस्तु के भीतर हैं और हर वस्तु उनके भीतर है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि जब कोई स्त्री किसी पुरुष से प्यार करती है, तो वह उसे देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहती है और नित्य ही वह उसे भिन्न भिन्न वस्त्र पहने हुए देखती है। वस्तुतः वह स्त्री वस्त्रों में नहीं, अपितु पुरुष में रुचि रखती है। इसी तरह प्रत्येक भौतिक वस्तु के भीतर भगवान् रहते हैं, अतः जिसमें ईश-प्रेम उत्पन्न हो चुका है, वह सर्वत्र भगवान् को देखता है, भगवान् को आच्छादित करने वाले ऊपरी पदार्थों को ही नहीं देखता।

इस श्लोक में *अयुक्तस्य* शब्द उसका द्योतक है, जो अभी सत्य की अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसा व्यक्ति भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति से वंचित होकर भौतिक अनुभव के असंख्य रूपों तथा स्वादों को भोगने का प्रयास करता है। यह क्षणिक भ्रामक व्यस्तता मोहग्रस्त जीव का स्वाभाविक कर्म नहीं है, जिससे वह परम सत्य भगवान् के विषय में अज्ञानी बना रहता है। इस पदार्थमय जगत के भीतर निस्सन्देह विविधताएँ हैं। जिस तरह कुत्तों में अनेक जातियाँ होती हैं, घोड़ों में भी विविध जातियाँ होती हैं, उसी तरह कुछ मनुष्य सुन्दर तथा शिक्षित होते हैं, तो कुछ आलसी तथा घरेलू। कुछ धनी हैं, तो कुछ निर्धन। प्रकृति में कहीं उर्वर भूमि है, तो कहीं बंजर भूमि, कहीं जंगल हैं, तो कहीं

रेगिस्तान, कहीं अमूल्य रत्न हैं, तो कहीं बदरंग शिलाएँ, कहीं स्वच्छ जल वाली कलकल करती नदियाँ हैं, तो कहीं गंदले स्थिर तालाब। मानव-समाज में हमें सुख तथा दुख, प्रेम तथा घृणा, जय तथा पराजय, युद्ध तथा शान्ति, जीवन तथा मृत्यु इत्यादि मिलते हैं। किन्तु इनमें से किसी अवस्था के साथ हमारा स्थायी सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि हम भगवान् कृष्ण के भिन्नांश नित्य आत्माएँ हैं। वैदिक संस्कृति इस तरह से व्यवस्थित है कि भगवान् की तुष्टि के लिए अपना कर्तव्य निर्वाह करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कार में पूर्ण बन सकता है। *स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।* किन्तु कुछ बद्धजीव यह विश्वास करते हैं कि जीवन में पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति परिवार, राष्ट्र, मानवता इत्यादि के लिए सामान्य कर्तव्य करने से हो सकती है। अन्य लोगों की रुचि न तो ईश्वर की सेवा करने में है, न उत्कृष्ट संसारी कर्मों को करने में। और कुछ लोग ऐसे हैं, जो पापमय जीवन बिताते हैं। ऐसे पापी व्यक्ति देर से सोकर अपराह्न उठते हैं और नशीले पदार्थ खाकर तथा अवैध यौन में रत रहकर रात-भर जागे रहते हैं। ऐसे अंधकारमय नारकीय जीवन का कारण *तमोगुण* के प्रति आकर्षण है। तमोगुणी कार्य *विकर्म* कहलाते हैं, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है। दुर्भाग्यवश न तो जिम्मेदार भौतिकतावादी व्यक्तियों को, न गैर-जिम्मेदार भौतिकतावादी व्यक्तियों को और न ही पापी व्यक्तियों को जीवन की असली सिद्धि अर्थात् कृष्णभावनामृत प्राप्त हो पाती है। यद्यपि विभिन्न समाजों तथा विभिन्न व्यक्तियों में अच्छे तथा बुरे की विभिन्न धारणाएँ हैं, किन्तु शाश्वत स्वार्थ अर्थात् कृष्णभावनामृत की दृष्टि से सारी भौतिक बातें अन्ततः व्यर्थ होती हैं। ऐसा विचार संत सदृश राजा चित्रकेतु द्वारा *भागवत* के छठे स्कंध (६.१७.२०) में व्यक्त हुआ है—

गुणप्रवाह एतस्मिन् कः शापः को न्वनुग्रहः।

कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा ॥

“यह भौतिक जगत निरन्तर प्रवाहमान नदी की तरंगों के समान है। अतएव क्या शाप और क्या अनुग्रह? क्या स्वर्ग और क्या नर्क? क्या सुख और क्या दुख? चूँकि तरंगों निरन्तर प्रवाहित होती हैं, अतएव उनमें से किसी का भी शाश्वत प्रभाव नहीं होता।” यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि वेदों में वैध तथा निषेध कार्य निर्देशित हैं, तब तो वेद भी इस जगत में अच्छाई तथा बुराई की धारणा स्वीकार करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि वेद नहीं, अपितु बद्धजीव भौतिक द्वन्द्व में बँधे हुए हैं। वैदिक

साहित्य का कार्य है कि वह मनुष्य को किसी विशेष स्तर पर लगाये जिस पर वह सम्प्रति स्थित है, और धीरे धीरे उसे ऊपर उठाकर जीवन की सिद्धि तक पहुँचा दे। सतोगुण स्वयं में आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यह आध्यात्मिक जीवन में बाधक नहीं होता। चूँकि सतोगुण मनुष्य की चेतना को शुद्ध बनाता है और उच्चतर ज्ञान के लिए लालसा उत्पन्न करता है अतएव यह उपयुक्त पद है जहाँ से आध्यात्मिक जीवन का अनुसरण किया जा सकता है, जिस तरह कि हवाई-अड्डा ऐसा उपयुक्त स्थान है, जहाँ से यात्रा की जाती है। यदि कोई व्यक्ति न्यूयॉर्क से लन्दन की यात्रा करना चाहता है, तो न्यूयॉर्क का हवाई-अड्डा निश्चित रूप से यात्रा करने के लिए सर्वोपयुक्त स्थान है। किन्तु यदि उसका वायुयान छूट जाता है, तो वह उन व्यक्तियों की ही तरह लन्दन से उतना ही दूर है, जो हवाई-अड्डे नहीं गये। दूसरे शब्दों में, हवाई-अड्डा तभी सार्थक है, जब वहाँ से कोई अपना वायुयान पकड़ सके। इसी तरह सतोगुण सर्वोपयुक्त स्थिति है, जिससे आध्यात्मिक मंच तक जाया जा सकता है। बद्धजीवों को सतोगुण तक ऊपर उठाने के लिए वेद अनेक कार्यों की संस्तुति तथा निषेध करते हैं, जहाँ से उन्हें दिव्य ज्ञान के बल पर आध्यात्मिक पद तक उठना है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत पद को प्राप्त नहीं हो पाता, तो सतोगुण तक उसका ऊपर उठना उसी तरह व्यर्थ है, जिस तरह हवाई-अड्डे तक की उसकी यात्रा व्यर्थ है, यदि उसका वायुयान छूट जाय। वेदों में अनेक विधियाँ तथा निषेध हैं, जो भौतिक वस्तुओं में से अच्छे तथा बुरे को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु वैदिक विधानों का चरम उद्देश्य आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करना है। यदि कोई व्यक्ति तुरन्त ही आध्यात्मिक जीवन बिताने लगे, तो फिर उसे सतोगुणी अनुष्ठानों में अपना समय नहीं गँवाना चाहिए। इसलिए *भगवद्गीता* (२.४५) में कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

“वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ है। हे अर्जुन! इन तीनों गुणों से ऊपर उठो। समस्त द्वैतों, हानि-लाभ तथा सुरक्षा की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर आत्मपरायण बनो।” इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने *महाभारत* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किए हैं—

स्वर्गाद्याश्च गुणाः सर्वे दोषाः सर्वे तथैव च।

आत्मनः कर्तृताभ्रान्त्या जायन्ते नात्र संशयः ॥

“भौतिक जगत में बद्धजीव स्वर्ग के वास को तथा सुन्दर स्त्रियों के साथ पवित्र भोग जैसे दैवी आनन्दों को, अच्छी तथा वांछित वस्तुएँ मानते हैं। इसी तरह दुखदायी या कष्टप्रद अवस्थाओं को बुरा माना जाता है। किन्तु भौतिक जगत में अच्छे-बुरे की ऐसी सारी अनुभूति इस मूलभूत त्रुटि पर आधारित है कि मनुष्य समस्त कार्यों का कर्ता भगवान् को न मानकर, अपने आपको मान बैठा है।”

परमात्मानमेवैकं कर्तारं वेत्ति यः पुमान्।

स मुच्यतेऽस्मात् संसारात् परमात्मानमेति च ॥

“दूसरी ओर, जो व्यक्ति यह जानता है कि भगवान् ही भौतिक प्रकृति के वास्तविक नियंता हैं और वे ही हर वस्तु को चला रहे हैं, वह इस संसार के बंधन से छूट सकता है। ऐसा व्यक्ति भगवद्धाम को जाता है।”

तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदमजगत् ।

आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; युक्त—वश में लाकर; इन्द्रिय-ग्रामः—सारी इन्द्रियों को; युक्त—दमन करके; चित्तः—अपना मन; इदम्—यह; जगत्—संसार; आत्मनि—आत्मा के भीतर; ईक्षस्व—देखो; विततम्—विस्तीर्ण (भौतिक भोग की वस्तु के रूप में); आत्मानम्—तथा उस आत्मा को; मयि—मुझ; अधीश्वरे—परम नियन्ता में।

इसलिए अपनी सारी इन्द्रियों को वश में करते हुए तथा मन को दमन करके, तुम सारे जगत को आत्मा के भीतर स्थित देखो, जो सर्वत्र प्रसारित है। यही नहीं, तुम इस आत्मा को मुझ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के भीतर भी देखो।

तात्पर्य : विततम् शब्द यह बतलाता है कि जीवात्मा पूरे ब्रह्माण्ड में विद्यमान है। इसी तरह भगवद्गीता (२.२४) में कृष्ण कहते हैं नित्य सर्वगतः—आत्मा नित्य है और समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों में फैला हुआ है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रत्येक जीवात्मा सर्वव्यापक है, अपितु यह कि भगवान् कृष्ण ने अपनी तटस्था शक्ति का सर्वत्र विस्तार कर रखा है। इस तरह मनुष्य को आँख मूँद कर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सूक्ष्म जीव सर्वव्यापक है, प्रत्युत उसे यह समझना चाहिए कि ईश्वर महान् हैं और अपनी निजी शक्ति का सर्वत्र विस्तार करते हैं। इस श्लोक में आत्मनीक्षस्व विततम् का यह अर्थ है कि यह जगत, उन बद्धजीवों की इन्द्रियतृप्ति के हेतु बनाया

गया, जो अपने असली स्वामी भगवान् कृष्ण के बिना ही भोग करने का प्रयत्न करते हैं। सारे जीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति का दोहन करने में लगे हुए हैं, किन्तु भौतिक जगत में उनका कार्यक्षेत्र भ्रामक है। यह भौतिक प्रकृति तथा बद्धजीव दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं, अतएव वे भगवान् के भीतर स्थित रहती हैं और उनके परम नियंत्रण में होती हैं।

प्रत्येक जीव भगवान् के आनन्द हेतु विद्यमान है और वह भगवान् का नित्य दास होता है। ज्योंही इन्द्रियाँ भौतिक तृप्ति में लीन हो जाती हैं, वे परम सत्य को अनुभव करने की अपनी शक्ति खो देती हैं। इन्द्रिय कर्म का वास्तविक लक्ष्य विष्णु तोषण है और सारी इन्द्रियाँ भगवान् के साकार रूप का अनुभव करके और सेवा करके अपार आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त कर सकती हैं। किन्तु जो लोग ईश्वर की निर्विशेष अनुभूति को मानते हैं, वे सारा इन्द्रिय कर्म बन्द कर देते हैं। किन्तु इन्द्रियाँ सदा के लिए निष्क्रिय नहीं रह सकतीं, अतएव वे भौतिक मोह के जगत में फिर से कर्म करने लगती हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाता है, तो वह भगवान् के दिव्य सौन्दर्य का दर्शन करके असीम आनन्द पाता है। किन्तु जब तक मनुष्य कृष्ण की शुद्ध प्रेमाभक्ति के द्वारा अपने आप को पात्र नहीं बना लेता, तब तक भगवान् उसे यह उच्च अनुभव प्रदान नहीं करते। इसलिए हर बद्धजीव को चाहिए कि वह भगवान् के आनन्दमय सान्निध्य को फिर से प्राप्त करके भगवान् से अनावश्यक वियोग का अन्त कर दे। भगवान् कृष्ण बद्धजीवों की अन्धी आँखें खोलने के लिए स्वयं आते हैं और इसलिए वे स्वयं उद्धव को शिक्षा दे रहे हैं, जिससे भविष्य में निष्ठावान व्यक्ति उनके उपदेशों का लाभ उठा सकें। निस्सन्देह, आज भी लाखों लोग *भगवद्गीता* में अर्जुन को कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेश से आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त करते हैं।

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम् ।

अत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—वेदों का निर्णायक ज्ञान; विज्ञान—तथा व्यावहारिक ज्ञान; संयुक्तः—से युक्त; आत्म-भूतः—स्नेह की वस्तु; शरीरिणाम्—सारे देहधारी जीवों (देवतादि से शुरु करके) के लिए; आत्म-अनुभव—आत्मा के प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा; तुष्ट-आत्मा—तुष्ट मन वाला; न—कभी नहीं; अन्तरायैः—उपातों (विघ्नों) से; विहन्यसे—तुम्हारी प्रगति रोक दी जायेगी।

वेदों के निर्णायक ज्ञान से समन्वित होकर तथा व्यवहार में ऐसे ज्ञान के चरम उद्देश्य की अनुभूति करके, तुम शुद्ध आत्मा का अनुभव कर सकोगे और इस तरह तुम्हारा मन तुष्ट हो

जायेगा। उस समय तुम देवतादि से लेकर सारे जीवों के प्रिय बन जाओगे और तब तुम जीवन के किसी भी उत्पात से रोके नहीं जाओगे।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है, जिसका मन भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है, उसे देवताओं की पूजा में अरुचि हो जाती है, क्योंकि ऐसी पूजा का उद्देश्य भौतिक उत्थान होता है। किन्तु देवतागण उस व्यक्ति से कभी नाराज नहीं होते, जो कृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है और भगवान् की ही पूजा करता है। सारे देवता स्वयं भी भगवान् के विनीत दास हैं, जैसाकि इस धरा पर कृष्ण की लीलाओं से स्पष्ट हो गया था। जो व्यक्ति हर एक के शरीर में नित्य आत्मा का अनुभव करता हो वह निश्चित रूप से सारे जीवों का प्रिय बन जाता है। चूँकि वह हर एक को गुणात्मक दृष्टि से अपने ही समान देखता है, इसलिए वह न तो किसी से ईर्ष्या करता है, न ही किसी पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयास करता है। ईर्ष्यामुक्त होने तथा सबों का हितैषी होने से ऐसा स्वरूपसिद्ध व्यक्ति स्वभावतः हर एक को प्रिय होता है। जैसाकि षड् गोस्वामियों के गीत में कहा गया है— *धीराधीर जनप्रियौ प्रियकरौ निर्मत्सरौ पूजितौ।*

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते ।

गुणबुद्ध्यो च विहितं न करोति यथार्भकः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

दोष-बुद्ध्यो—यह सोचने से कि ऐसा काम गलत है; उभय-अतीतः—दोनों (संसारी अच्छे तथा बुरे की धारणाओं) को लाँघ जाने वाला; निषेधात्—जो वर्जित है, उससे; न निवर्तते—अपने को दूर नहीं रखता; गुण-बुद्ध्यो—यह सोचकर कि यह ठीक है; च—भी; विहितम्—जिसका आदेश हुआ है, वैध; न करोति—नहीं करता; यथा—जिस तरह; अर्भकः—छोटा बालक।

जो भौतिक अच्छाई तथा बुराई को लाँघ चुका होता है, वह स्वतः धार्मिक आदेशों के अनुसार कार्य करता है और वर्जित कार्यों से बचता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति यह सब अबोध बालक की तरह अपने आप करता है वरन् इसलिए नहीं कि वह भौतिक अच्छाई तथा बुराई के रूप में सोचता रहता है।

तात्पर्य : जिसने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह मनमाने ढंग से कार्य नहीं करता। श्रील रूप गोस्वामी ने भक्ति की दो अवस्थाएँ बतलाई हैं— *साधन भक्ति* तथा *रागानुग भक्ति*। रागानुग भक्ति ईश्वर के प्रति अपने आप उठने वाले प्रेम की अवस्था है, जबकि *साधन भक्ति* का अर्थ है, भक्ति के विधि-विधानों का विवेकपूर्ण अभ्यास। अधिकांशतः, जो व्यक्ति इस समय दिव्य चेतना का आनन्द उठा रहा

है, उसने भक्ति के विधि-विधानों का दृढ़ता से अभ्यास किया है। इस तरह पूर्व अभ्यास के कारण वह अपने आप पापमय जीवन से बच जाता है और सामान्य पुण्य के मानकों के अनुसार कर्म करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक स्वरूपसिद्ध व्यक्ति, जान-बूझकर पाप से बच रहा है और पुण्य करता है। प्रत्युत अपने स्वरूपसिद्ध स्वभाव के कारण वह उच्च आध्यात्मिक कार्यों में उसी तरह प्रवृत्त रहता है, जिस तरह अबोध बालक में दया, सहिष्णुता आदि के गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। यह आध्यात्मिक अवस्था शुद्ध सत्त्व कहलाती है और भौतिक सतोगुण से पृथक् होती है, जो रजो तथा तमोगुण का कुछ न कुछ मिश्रण होने के कारण प्रदूषित हुआ रहता है। इस तरह यदि सतोगुणी व्यक्ति जगत की दृष्टि में अत्यन्त पवित्र प्रतीत होता है, तो दिव्य सतोगुणी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति के निर्मल्य चरित्र के विषय में हम सही अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवत (५.१८.१२) में कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

यदि मनुष्य भगवान् कृष्ण का शुद्ध भक्त है, तो उसमें अपने आप देवताओं के उच्च गुण आ जायेंगे। शुद्धता की ऐसी अभिव्यक्ति रागानुग है, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है।

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।

पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूत—समस्त प्राणियों के प्रति; सु-हृत्—शुभैषी; शान्तः—शान्त; ज्ञान-विज्ञान—ज्ञान तथा दिव्य अनुभूति में; निश्चयः—दृढ़तापूर्वक स्थित; पश्यन्—देखते हुए; मत्-आत्मकम्—मेरे द्वारा व्याप्त; विश्वम्—ब्रह्माण्ड को; न विपद्येत—जन्म-मृत्यु के चक्र में कभी नहीं पड़ेगा; वै—निस्सन्देह; पुनः—फिर से।

जो व्यक्ति सारे जीवों का शुभैषी है, जो शान्त है और ज्ञान तथा विज्ञान में दृढ़ता से स्थिर है, वह सारी वस्तुओं को मेरे भीतर देखता है। ऐसा व्यक्ति फिर से जन्म-मृत्यु के चक्र में कभी नहीं पड़ता।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप ।

उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वं जिज्ञासुरच्युतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; आदिष्टः—आदेश दिया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; महा-भागवतः—भगवान् के महान् भक्त; नृप—हे राजा; उद्धवः—उद्धव ने; प्रणिपत्य—नमस्कार करके; आह—कहा; तत्त्वम्—वैज्ञानिक सत्य; जिज्ञासुः—सीखने के लिए उत्सुक होने से; अच्युतम्—अच्युत भगवान् से।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, इस तरह भगवान् कृष्ण ने अपने शुद्ध भक्त उद्धव को उपदेश दिया, जो उनसे ज्ञान पाने के लिए उत्सुक थे। तत्पश्चात्, उद्धव ने भगवान् को नमस्कार किया और उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : उद्धव को यहाँ पर तत्त्वं जिज्ञासुः कहा गया है। पिछले श्लोकों से स्पष्ट है कि श्री उद्धव भगवान् कृष्ण के शुद्ध भक्त हैं और वे कृष्ण की भक्ति को जीवन की सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार तत्त्वं जिज्ञासुः शब्द सूचित करते हैं कि चूँकि कृष्ण इस पृथ्वी को छोड़ने वाले हैं, इसलिए उद्धव अत्यन्त उत्सुक हैं कि वे भगवान् विषयक ज्ञान को और प्रखर कर लें, जिससे वे उनके चरणकमलों पर प्रेमाभक्ति करने में अग्रसर हो सकें। शुद्ध भक्त सामान्य दार्शनिक या पंडित की तरह निजी तृप्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक नहीं होता है।

श्रीउद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन्योगसम्भव ।

निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः सन्न्यासलक्षणः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; योग-ईश—हे योग के फल को देने वाले; योग-विन्यास—अयोग्यों को भी योगशक्ति प्रदान करने वाले; योग-आत्मन्—योग के द्वारा जाने जानेवाले, हे परम आत्मा; योग-सम्भव—हे समस्त योगशक्ति के उद्गम; निःश्रेयसाय—परम लाभ हेतु; मे—मेरे; प्रोक्तः—आपने, जो कहा है; त्यागः—वैराग्य; सन्न्यास—संन्यास आश्रम स्वीकार करने से; लक्षणः—लक्षण से युक्त।

श्री उद्धव ने कहा : हे स्वामी, आप ही योगाभ्यास के फलों को देने वाले हैं और आप इतने कृपालु हैं कि अपने प्रभाव से आप अपने भक्त को योगसिद्धि वितरित करते हैं। इस तरह आप परमात्मा हैं, जिसकी अनुभूति योग द्वारा होती है और आप ही समस्त योगशक्ति के उद्गम हैं। आपने मेरे उच्चतम लाभ के लिए संन्यास या वैराग्य द्वारा भौतिक जगत त्यागने की विधि बतलाई है।

तात्पर्य : योगेश शब्द इसका सूचक है कि भगवान् समस्त योगाभ्यासों का फल देने वाले हैं। चूँकि समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत कृष्ण के दिव्य शरीर से उद्भूत होते हैं, अतएव योग द्वारा कृष्ण तथा उनकी शक्तियों के अतिरिक्त और कुछ पाने के लिए शेष नहीं रहता। और चूँकि भगवान् अपनी शक्तियों के शाश्वत-स्वामी हैं, अतएव कोई भी व्यक्ति योग द्वारा या अन्य किसी आध्यात्मिक अथवा भौतिक विधि से कुछ भी नहीं पा सकता और यदि पा सकता है, तो भगवान् की स्वीकृति से ही पा सकता है। योग शब्द का अर्थ है “जोड़ना” और जब तक हम अपने आपको परम सत्य से जोड़ते नहीं, तब तक हम अज्ञान के अंधकार से ढके रहते हैं। इस तरह, कृष्ण योग के लक्ष्य हैं।

भौतिक जगत में हम मिथ्या ही अपने को इन्द्रिय-विषयों से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। पुरुष स्त्री से जुड़ना चाहता है और स्त्री पुरुष से। अथवा मनुष्य अपने को राष्ट्रीयता, समाजवाद, पूँजीवाद या भगवान् की माया की अन्य असंख्य सृष्टियों से जुड़ने का प्रयास करता है। चूँकि हम अपने को नश्वर वस्तुओं से जोड़ते हैं, इसलिए ऐसे सम्बन्ध नश्वर हैं, परिणाम भी क्षणिक हैं और मृत्यु के समय, जब माया द्वारा हमारे सारे सम्बन्ध सहसा छिन्न कर दिये जाते हैं, तो हम मोहग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु यदि हम अपने को कृष्ण से जोड़ते हैं, तो उनसे हमारा सम्बन्ध मृत्यु के बाद भी बना रहेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है कि इस जीवन में हम कृष्ण के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वह अगले जीवन में तब तक बढ़ता जायेगा, जब तक हम परम गन्तव्य कृष्ण-लोक में प्रवेश नहीं पा जाते। जो लोग भगवान् द्वारा संस्तुत दिव्य जीवन-शैली का पालन करते हुए चैतन्य महाप्रभु के मिशन की निष्ठापूर्वक सेवा करते हैं, वे अपने जीवन के अन्त में भगवद्भ्राम में प्रवेश करेंगे।

कोई भी व्यक्ति केवल मानसिक चिन्तन से स्थायी पद प्राप्त नहीं कर सकता। सामान्य इन्द्रियतृप्ति द्वारा उसे प्राप्त करना तो दूर रहा। हठयोग, कर्मयोग, राजयोग, ज्ञानयोग इत्यादि के द्वारा भगवान् की शाश्वत प्रेमाभक्ति सम्पन्न करने की लालसा को जागृत नहीं किया जा सकता। इस तरह मनुष्य आध्यात्मिक भोग के दिव्य स्वाद से वंचित रहता है। कभी कभी बद्धजीव अपनी इन्द्रियों की तृप्ति न कर पाने के कारण कटुतावश इस जगत का परित्याग करने और निर्विशेष पीड़ारहित अध्यात्म में विलीन हो जाने का निश्चय कर लेता है। किन्तु वास्तविक सुखमय स्थिति तो यह है कि भगवान् के चरणकमलों की प्रेमाभक्ति की जाय। सारी योग-विधियाँ मनुष्य को धीरे धीरे भगवत्प्रेम तक ले जाती

हैं और भगवान् कृष्ण का उद्देश्य बद्धजीवों को इस सुखमय स्थिति में पुनः स्थापित करना है। चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से, जो कि इस युग की सर्वोच्च योग-विधि है, इस सिद्धि को सुलभ बनाते हैं।

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन्कामानां विषयात्मभिः ।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

त्यागः—वैराग्य; अयम्—यह; दुष्करः—सम्यन्न करना कठिन; भूमन्—हे स्वामी; कामानाम्—भौतिक भोग का; विषय—इन्द्रियतृप्ति; आत्मभिः—समर्पित; सुतराम्—विशेष रूप से; त्वयि—तुममें; सर्व-आत्मन्—हे परमात्मा; अभक्तैः—भक्तिविहीनों द्वारा; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; मतिः—मत।

हे प्रभु, हे परमात्मा, ऐसे लोगों के लिए, जिनके मन इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं और विशेषतया उनके लिए, जो आपकी भक्ति से वंचित हैं, भौतिक भोग को त्याग पाना अतीव कठिन है। ऐसा मेरा मत है।

तात्पर्य : जो असली भगवद्भक्त हैं, वे अपनी निजी तृप्ति के लिए कुछ भी स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत वे उन वस्तुओं को स्वीकार करते हैं, जो भगवान् की सेवा में अर्पित करने के लिए उपयुक्त होती हैं। विषयात्मभिः शब्द उनका द्योतक है, जो भौतिक वस्तुओं को भगवान् की भक्ति के लिए न चाहकर निजी तृप्ति के लिए चाहते हैं। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों के मन विचलित रहते हैं और ऐसे व्यक्तियों के लिए भौतिक भोग को त्याग पाना असम्भव है। यह श्री उद्धव का मत है।

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे ।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अहम्—मैं; मम अहम्—“मैं” तथा “मेरा” का झूठा विचार; इति—इस प्रकार; मूढ—अत्यन्त मूर्ख; मतिः—चेतना; विगाढः—लीन; त्वत्-मायया—आपकी माया से; विरचित—निर्मित; आत्मनि—शरीर में; स-अनुबन्धे—शारीरिक सम्बन्धों सहित; तत्—इसलिए; तु—निस्सन्देह; अञ्जसा—सरलता से; निगदितम्—उपदेश दिया हुआ; भवता—आपके द्वारा; यथा—विधि जिससे; अहम्—मैं; संसाधयामि—सम्यन्न कर सकूँ; भगवन्—हे भगवान्; अनुशाधि—शिक्षा दें; भृत्यम्—अपने सेवक को।

हे प्रभु, मैं स्वयं सबसे बड़ा मूर्ख हूँ, क्योंकि मेरी चेतना आपकी माया द्वारा निर्मित भौतिक देह तथा शारीरिक सम्बन्धों में लीन है। इस तरह मैं सोच रहा हूँ, “मैं यह शरीर हूँ और ये सारे

सम्बन्धी मेरे हैं।” अतएव हे स्वामी, अपने इस दीन सेवक को उपदेश दें। कृपया मुझे बतायें कि मैं आपके आदेशों का किस तरह सरलता से पालन करूँ ?

तात्पर्य : भौतिक शरीर से अपनी मिथ्या पहचान को त्याग पाना अत्यन्त कठिन है, अतएव हम अपने तथाकथित शारीरिक सम्बन्धों से यथा स्त्री, सन्तान, मित्र इत्यादि से लिप्त रहते हैं। शारीरिक लगाव से हृदय के भीतर विकट पीड़ा होती है और हम शोक तथा लालसा से स्तब्ध रह जाते हैं। भगवान् के शुद्ध भक्त उद्धव यहाँ पर सामान्य पुरुष की भाँति यह दिखाते हुए बोलते हैं कि भगवान् की स्तुति किस तरह की जाय। हम देखते हैं कि अनेक पापी व्यक्ति इस्कॉन में प्रवेश करते हैं और प्रारम्भिक शुद्धि के बाद वे अपने पूर्व अवैध कर्मों पर पश्चात्ताप करते हैं। उन्हें तब धक्का लगता है, जब वे यह अनुभव करते हैं कि उन्होंने किस तरह माया द्वारा उत्पन्न व्यर्थ के रूपों का पीछा करने के लिए ईश्वर की संगति को त्याग दिया था। अतएव वे गुरु तथा भगवान् कृष्ण से हार्दिक रूप से प्रार्थना करते हैं कि वे दिव्य भक्ति में निरन्तर लगे रहें। आध्यात्मिक प्रगति के लिए ऐसी पश्चात्तापयुक्त उत्सुक चित्तवृत्ति अत्यन्त शुभ है। भगवान् निश्चित रूप से ऐसे पश्चात्तापपूर्ण भक्त की प्रार्थनाएँ सुनते हैं, जो माया के पाश से छूटने के लिए आतुर रहता है।

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे ।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सत्यस्य—परम सत्य का; ते—आपके अतिरिक्त; स्व-दृशः—आपको प्रकट करने वाला; आत्मनः—मेरे स्वयं के लिए; आत्मनः—भगवान् की अपेक्षा; अन्यम्—दूसरा; वक्तारम्—योग्य वक्ता; ईश—हे प्रभु; विबुधेषु—देवताओं से; अपि—ही; न—नहीं; अनुचक्षे—मैं देख सकता हूँ; सर्वे—वे सभी; विमोहित—मोहग्रस्त; धियः—उनकी चेतना; तव—तुम्हारी; मायया—माया द्वारा; इमे—ये; ब्रह्मा-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि; तनु-भृतः—भौतिक शरीर से युक्त बद्धजीव; बहिः—बाह्य वस्तुओं में; अर्थ—परम मूल्य; भावाः—विचार करते हुए।

हे प्रभु, आप परम सत्य भगवान् हैं और आप अपने भक्तों को अपना रूप दिखलाते हैं। मुझे आपके अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं दिखता जो वास्तव में मुझे पूर्ण ज्ञान बतला सके। ऐसा पूर्ण शिक्षक स्वर्ग में देवताओं के बीच भी ढूँढ़े नहीं मिलता। निस्सन्देह ब्रह्मा इत्यादि सारे देवता

आपकी मायाशक्ति से मोहग्रस्त हैं। वे बद्धजीव हैं, जो अपने भौतिक शरीरों तथा शारीरिक अंशों को सर्वोच्च सत्य मान लेते हैं।

तात्पर्य : उद्धव का कहना है कि ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे बद्धजीव भगवान् की माया द्वारा उत्पन्न भौतिक शरीरों से आच्छादित रहते हैं। स्वर्ग के देवता संसार की व्यवस्था में लीन रहने के कारण अपने विपुल ऐश्वर्य का निरन्तर उपभोग करते हैं। अतएव वे धीरे धीरे अपने मन को अपने योग से शक्तिप्राप्त शरीरों पर तथा अपने शारीरिक अंशों पर—यथा अपनी स्वर्गिक पत्नियों, बच्चों, सहयोगियों तथा मित्रों पर एकाग्र करते हैं। स्वर्ग में रहते-रहते देवतागण भौतिक अच्छाई तथा बुराई के रूप में सोचने के आदी हो जाते हैं, अतएव वे अपने शरीरों के तत्कालिक कल्याण को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मान लेते हैं।

किन्तु देवतागण ईश्वर के नियमों का दृढ़ता से पालन करने का प्रयास करते हैं। और उन्हें इस कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए भगवान्, जिनमें उन देवताओं से कहीं बढ़-चढ़कर शक्तियाँ होती हैं, इन स्वर्गिक प्राणियों को अपने परम व्यक्तित्व का स्मरण कराने के लिए अवतरित होते हैं। भगवान् विष्णु का नित्य शरीर आनन्द, ज्ञान तथा असीम विविध शक्तियों से पूर्ण होता है, जबकि देवताओं के भौतिक रूप भव्य होते हुए भी जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से पीड़ित रहते हैं।

चूँकि देवतागण इस सृजित ब्रह्माण्ड पर शासन चलाते हैं, अतएव उनकी भगवद्भक्ति भौतिक इच्छाओं से रंजित रहती है। इसलिए वे वैदिक ज्ञान के उन अंशों के प्रति आकृष्ट होते हैं, जो उनके दैवी जीवन के चलते रहने के लिए भौतिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं। किन्तु उद्धव शुद्ध भगवद्भक्त होने के कारण शाश्वत जीवन पाने हेतु, भगवद्धाम जाने के लिए कृतसंकल्प हैं, अतएव देवताओं के अशुद्ध वैदिक ज्ञान में उनकी रुचि नहीं है। यह भौतिक जगत विराट बन्दीगृह है, जिसके अन्तःवासी जन्म, मृत्यु, जरा तथा मोह के अधीन होते हैं और शुद्ध भक्त इस बन्दीगृह में देवताओं की भाँति प्रथम श्रेणी के बन्दी की तरह रहने का भी इच्छुक नहीं होता। श्री उद्धव भगवद्धाम जाने के इच्छुक हैं इसीलिए वे सीधे भगवान् के पास जाते हैं। भगवान् स्व-दृशः हैं अर्थात् अपने भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। इसलिए या तो भगवान् या उनका शुद्ध भक्त ही, जो भगवान् के संदेश को निष्ठापूर्वक दोहराता

है, किसी को भौतिक आकाश से परे दिव्य लोकों के स्वतंत्र वातावरण में ले जा सकता है, जहाँ पर मुक्तात्माएँ आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन बिताती हैं।

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
 सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्यम् ।
 निर्विण्णधीरहमु हे वृजिनाभितप्तो
 नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; भवन्तम्—आपको; अनवद्यम्—पूर्ण; अनन्त-पारम्—असीम; सर्व ज्ञम्—सर्वज्ञ; ईश्वरम्—भगवान् को; अकुण्ठ—किसी शक्ति से अविचलित; विकुण्ठ—वैकुण्ठ-लोक; धिष्यम्—जिनका निजी धाम; निर्विण्ण—विरक्त अनुभव करते हुए; धीः—मेरा मन; अहम्—मैं; उ हे—हे (स्वामी); वृजिन—भौतिक कष्ट द्वारा; अभितप्तः—सताया हुआ; नारायणम्—नारायण की; नर-सखम्—अति सूक्ष्म जीव का मित्र; शरणम् प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ।

अतएव हे स्वामी, भौतिक जीवन से ऊब कर तथा इसके दुखों से सताया हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ, क्योंकि आप पूर्ण स्वामी हैं। आप अनन्त, सर्वज्ञ भगवान् हैं, जिनका आध्यात्मिक निवास वैकुण्ठ में होने से समस्त उपद्रवों से मुक्त है। वस्तुतः आप समस्त जीवों के मित्र नारायण नाम से जाने जाते हैं।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति अपने को स्वनिर्मित नहीं कह सकता, क्योंकि हर व्यक्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरीर तथा मन से कार्य करता है। प्रकृति के नियमों से संसार में सदैव चिन्ता बनी रहती है और समय समय पर भयंकर दुर्घटनाएँ बद्धजीवों को त्रस्त करती रहती हैं। यहाँ उद्धव यह इंगित करते हैं कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही बद्धजीवों के सही स्वामी, मित्र तथा आश्रय हैं। भले ही हम किसी व्यक्ति विशेष या देवता के सद्गुणों से आकृष्ट हों, किन्तु बाद में हमें उस व्यक्ति के आचरण में कुछ त्रुटियाँ दिख सकती हैं। इसलिए कृष्ण को *अनवद्यम्* कहा गया है। भगवान् के आचरण या चरित्र में किसी प्रकार का दोष नहीं होता। वे शाश्वत दोषरहित हैं।

हो सकता है, हम अपने स्वामी, पिता या देवता की सेवा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक करते रहें, किन्तु जब हमारी सेवा का पुरस्कार मिलने का समय आये, तो स्वामी का देहान्त हो जाय। इसलिए भगवान् कृष्ण को यहाँ पर *अनन्त-पारम्* कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि वे काल या देश से सीमित नहीं हैं। *अन्त* शब्द सूचक है, काल की समाप्ति का और *पार* शब्द दिक् की समाप्ति का सूचक है। अतएव

अनन्त-पारम् का अर्थ है कि कृष्ण काल या देश से बँधे नहीं हैं, अतएव वे अपने श्रद्धालु सेवकों को कर्तव्य समझ कर अवश्य ही पुरस्कार देंगे।

यदि हम भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा करते हैं, तो हो सकता है कि हमारा तथाकथित स्वामी हमारी सेवाओं को भूल जाय या कृतघ्न बन जाय। इसलिए यहाँ पर कृष्ण को *सर्वज्ञम्* अर्थात् सबकुछ जानने वाला बतलाया गया है। वे अपने भक्त की सेवा को कभी भी भूल नहीं सकते। अतएव वे कभी कृतघ्न नहीं होते। वास्तव में, कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण अपने भक्तों के दोषों को स्मरण नहीं रखते। वे उनके द्वारा की गई सेवा का ही स्मरण रखते हैं।

कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा करने का एक दोष यह भी है कि जब हम संकट में हों, तो हो सकता है कि वह हमारी रक्षा न कर सके। यदि हम अपने राष्ट्र की शरण ग्रहण करते हैं, तो हो सकता है कि वह युद्ध में विनष्ट हो जाय। यदि हम अपने परिवार की शरण लें, तो वे भी मर सकते हैं। और जैसाकि वैदिक वाङ्मय में कहा गया है, देवता भी असुरों द्वारा कभी कभी पराजित हो जाते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण को यहाँ पर ईश्वर कहा गया है, अतएव उनके पराजित होने या किसी अन्य शक्ति द्वारा रोके जाने का कोई भय नहीं रहता। इस तरह भगवान् कृष्ण का यह वायदा कि वे अपने भक्त की रक्षा करते हैं, निरन्तर वैध बना रहता है।

यदि हम भगवान् की सेवा नहीं करेंगे, तो हमें अपनी सेवा का अन्तिम परिणाम भी ज्ञात नहीं हो सकेगा। किन्तु यहाँ पर भगवान् कृष्ण को *अकुण्ठ-विकुण्ठ-धिष्यम्* कहा गया है। भगवान् कृष्ण का नित्य धाम वैकुण्ठ कहलाता है और इस धाम में किसी के द्वारा कभी कोई उत्पात नहीं मचाया जाता। कृष्ण के श्रद्धालु सेवक आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण जीवन बिताने के लिए भगवद्धाम अवश्य ही वापस जायेंगे। किन्तु जब देवता तक देर-सवेर विनष्ट होते हैं, तो भला क्षुद्र मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाय ? फिर ऐसे देवताओं की सेवा करके कौन-सा लाभ प्राप्त किया जा सकता है ?

उद्धव अपनी निजी स्थिति का बयान *निर्विण्ण-धीः* तथा *वृजिनाभितप्तः* के रूप में करते हैं। दूसरे शब्दों में, उद्धव यह कहते हैं कि वे भौतिक जीवन के विरोधों तथा मानसिक क्लेश से ऊब चुके हैं। इसलिए उन्हें बाध्य होकर विनीत भाव से उन कृष्ण के चरणकमलों में शरण लेने पड़ रही है, जो कि प्रत्येक जीव के मित्र हैं। भौतिक जगत में बड़े लोगों के पास क्षुद्र व्यक्तियों से मिलने के लिए समय

नहीं मिलता। किन्तु भगवान् महानतम पुरुष होते हुए भी प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित रहते हैं। इस प्रकार वे सर्वाधिक दयालु हैं। भगवान् कृष्ण नार अर्थात् इस जगत को उत्पन्न करने वाले भगवान् के पुरुष अंश के भी परम आश्रय हैं। जीव नर कहलाता है और उसके भौतिक पद का स्रोत नार या महाविष्णु कहलाता है। नारायण शब्द इसका सूचक है कि महाविष्णु भी कृष्ण की शरण में जाते हैं, जो निश्चय ही परम हैं यद्यपि हमारी चेतना इस समय पापपूर्ण लालसाओं से दूषित है, किन्तु यदि हम श्री उद्धव के आदर्श का पालन करें और भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करें, तो सबकुछ ठीक हो जाएगा। कृष्ण की शरण ग्रहण करने का अर्थ है कृष्ण-भक्ति का आश्रय लेना और उनकी आज्ञा का पालन करना। भगवद्गीता में कृष्ण ने इसकी माँग की है और यदि हम भगवान् की आज्ञा का पालन करें तो हमारा जीवन पूर्णतया शुभ तथा सफल हो जाय। तब हम आशा से पहले ही कृष्ण-कृपा से आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन के लिए भगवद्धाम में प्रवेश कर सकते हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः ।

समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् कृष्ण ने कहा; प्रायेण—सामान्यतः; मनुजाः—मनुष्यगण; लोके—इस जगत में; लोक-तत्त्व—भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति; विचक्षणाः—पंडित; समुद्धरन्ति—उद्धार करते हैं; हि—निस्सन्देह; आत्मानम्—अपने से; आत्मना—अपनी बुद्धि से; एव—निस्सन्देह; अशुभ-आशयात्—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा की अशुभ मुद्रा से।

भगवान् ने उत्तर दिया : सामान्यतया वे मनुष्य, जो भौतिक जगत की वास्तविक स्थिति का दक्षतापूर्वक विश्लेषण कर सकते हैं, अपने आपको स्थूल भौतिक तृप्ति के अशुभ जीवन से ऊपर उठाने में समर्थ होते हैं।

तात्पर्य : श्री उद्धव ने पिछले श्लोकों में भगवान् से अपनी पतितावस्था तथा जीवन की भौतिक धारणा में अपने फँसने की बात बतलाई। अब भगवान् कृष्ण उद्धव को पुनः आश्चस्त करते हैं कि उद्धव से कम योग्य व्यक्ति भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के अशुभ जीवन से अपने को बाहर निकालने में सक्षम होते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार, प्रामाणिक गुरु से उपदेश न प्राप्त करने पर भी मनुष्य प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विश्लेषण द्वारा यह समझ सकते हैं कि संसार भोग का स्थान नहीं है। प्रत्यक्ष विश्लेषण

का अर्थ है निजी अनुभव तथा अप्रत्यक्ष विश्लेषण का अर्थ है, अन्यो के अनुभवों को सुनना और पढ़ना।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार कृष्ण उद्धव को स्वर्ग के देवताओं से भी अधिक बुद्धिमान मानते थे। किन्तु उद्धव हतोत्साहित हो रहे थे और अपने को भगवान् की सेवा करने के अयोग्य समझ रहे थे। किन्तु भगवान् कृष्ण को गुरु-रूप में पाकर उद्धव पूर्णतया स्थिर थे। इसी प्रकार कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों का मार्गदर्शन समिति के संस्थापकाचार्य ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा होता है। इसलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन के निष्ठावान सदस्य को कभी भी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, अपितु उनके आशीर्वादों की गणना करके भगवद्धाम वापस जाने के लिए आवश्यक कर्म करने चाहिए। भौतिक जगत के अन्तर्गत कुछ कर्म शुभ और सुख लाने वाले हैं, जबकि अन्य कर्म पापमय होने से अशुभ होते हैं और अपार कष्ट उत्पन्न करते हैं। यहाँ तक कि वह व्यक्ति, जिसे अपने कृष्ण-भक्त गुरु की कृपा प्राप्त नहीं हुई, उसे अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि सामान्य भौतिक जीवन में कोई सुख नहीं है और असली आत्म-रुचि (स्वार्थ) भौतिक स्तर से परे स्थित है।

श्रील मध्वाचार्य इंगित करते हैं कि भले ही कोई व्यक्ति न केवल भौतिक ज्ञान में, अपितु आध्यात्मिक ज्ञान में भी दक्ष हो, यदि वह भगवद्भक्तों की संगति की उपेक्षा करता है, तो वह अज्ञान के अंधकार में चला जाता है। इसलिए इस श्लोक की ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिए, जो शुद्ध भक्त गुरु के महत्त्व को कम करने वाली हो। जो *विचक्षणः* अर्थात् दक्ष है, वह अन्ततोगत्वा पदार्थ तथा आत्मा के अन्तर को समझ लेगा। ऐसा व्यक्ति अवश्य ही शुद्ध गुरु को पहचानेगा और मानेगा। जो व्यक्ति ज्ञान में बड़ा-चढ़ा होता है, वह विनीत बन जाता है। इस तरह दक्ष महापुरुष कभी भी भगवद्भक्तों के चरणकमलों की उपेक्षा नहीं करते।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ।

यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—अपना ही; गुरुः—उपदेश देने वाला गुरु; आत्मा—स्वयं; एव—निस्सन्देह; पुरुषस्य—मनुष्य का; विशेषतः—विशेष अर्थ में; यत्—क्योंकि; प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष अनुभूति से; अनुमानाभ्याम्—तर्क के प्रयोग से; श्रेयः—असली लाभ; असौ—वह; अनुविन्दते—प्राप्त कर सकता है।

बुद्धिमान व्यक्ति, जो अपने चारों ओर के जगत का अनुभव करने तथा ठोस तर्क का प्रयोग करने में निपुण होता है, अपनी ही बुद्धि के द्वारा असली लाभ प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार कभी कभी मनुष्य अपना ही उपदेशक गुरु बन जाता है।

तात्पर्य : जैसाकि इस अध्याय में राजा यदु तथा अवधूत की वार्ता के माध्यम से बताया गया है। संवेदनशील, तर्कपूर्ण व्यक्ति अपने चारों ओर के जगत का निरीक्षण करके असली ज्ञान तथा सुख प्राप्त कर सकता है। अन्य जीवों के सुख और दुख को देखकर मनुष्य यह समझ सकता है कि क्या लाभप्रद है और क्या अनिष्टकर है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इस सम्बन्ध में कहा है—*गुर्वनुसरणे प्रवर्तक इत्यर्थः*—अपनी अनुभूति तथा बुद्धि से अर्जित ज्ञान से भगवान् के प्रतिनिधि के महत्त्व को समझा जा सकता है। इस श्लोक में *श्रेयस्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि से जीवन में आगे बढ़ सकता है। अच्छी संगति से मनुष्य को धीरे धीरे कृष्ण के दास-रूप में अपनी नित्य स्थिति को समझ लेना चाहिए। तब वह अन्य प्रबुद्धजनों के सान्निध्य में रहने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो जाता है। कृष्ण के प्रबुद्ध दास का लक्षण है कि वह ऐसे अन्य महात्माओं की संगति के लिए लालायित रहता है। इस तरह इस भौतिक जगत का संवेदनशील तथा तर्कसंगत निरीक्षण करते हुए मनुष्य को भक्तों की संगति में आध्यात्मिक जीवन के महत्त्व को समझना चाहिए।

पुरुषत्वे च मां धीराः साङ्ख्ययोगविशारदाः ।

आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पुरुषत्वे—मनुष्य-जीवन में; च—तथा; माम्—मुझको; धीराः—आध्यात्मिक ज्ञान के माध्यम से ईर्ष्या से मुक्त हुए; साङ्ख्य-योग—वैश्लेषिक ज्ञान तथा भगवद्भक्ति से बने आध्यात्मिक विज्ञान में; विशारदाः—दक्ष; आविस्तराम्—प्रत्यक्षतः प्रकट; प्रपश्यन्ति—वे स्पष्ट देखते हैं; सर्व—सभी; शक्ति—मेरी शक्ति से; उपबृंहितम्—प्रदत्त, समन्वित।

मनुष्य-जीवन में जो लोग आत्मसंयमी हैं और सांख्य योग में दक्ष हैं, वे मुझे मेरी सारी शक्तियों समेत प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

तात्पर्य : वेदों में निम्नलिखित कथन पाया जाता है—*पुरुषत्वे चाविस्तराम् आत्मा सहित-प्रज्ञानेन सम्पन्न-तमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतम् ईप्सत्येवं सम्पन्नोऽथेतरेषां पशूनाम् अशना-पिपासे एवभिज्ञानम्*—“मनुष्य-जीवन में आत्मा बुद्धि से समन्वित होता है, जिससे वह आध्यात्मिक ज्ञान को समझ सके। इस प्रकार मनुष्य-जीवन में आत्मा अनुभूत ज्ञान को बोल सकता है, सत्य को देख सकता है, भविष्य को जान सकता है और इस जगत तथा अगले जीवन की वास्तविकता को समझ सकता है। मर्त्य जीवन के अनुभव का लाभ उठाकर मनुष्य-रूप में आत्मा अमरता के लिए प्रयास कर सकता है और मानव-शरीर इसे प्राप्त करने के लिए पूरी तरह तैयार होता है। ऐसी अग्रसर अवस्था में आत्मा पशुओं के सामान्य कार्यों, यथा खाने-पीने से पूर्णतया ज्ञात होता है।”

मनुष्य-जीवन (*पुरुषत्वे*) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें अपने अस्तित्व को पूर्ण बनाने का अवसर प्रदान करता है। यहाँ पर उल्लिखित सांख्य विधि भगवान् कपिल द्वारा अपनी माता देवहूति को दिए उपदेशों में बहुत अच्छी रीति से प्रदर्शित होती है। कपिल भगवान् हैं और उनकी माता यह कहती हुई, उनके पास पहुँचीं—

निर्विण्णा नितरां भूमन्नसद्-इन्द्रियतर्षणात् ।

येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥

“मैं अपनी भौतिक इन्द्रियों द्वारा किये गये उत्पात से अत्यन्त ऊबी हुई हूँ, क्योंकि इसी इन्द्रिय उत्पात से, हे प्रभु! मैं अज्ञान के गर्त में गिर चुकी हूँ।” (भागवत ३.२५.७) भगवान् कपिल ने अपनी माता को समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक सत्य का उच्च स्तरीय तार्किक सारांश प्रदान किया। यह महत्त्वपूर्ण है कि कपिल ने यह भेदभाव नहीं बरता कि उनकी माता स्त्री हैं, न ही यह माना कि वे इस विस्तृत आध्यात्मिक ज्ञान को समझने में अक्षम हैं। इस प्रकार मुक्तात्माओं के कृष्णभावनाभावित समाज में कोई भी पुरुष, स्त्री या बालक बिना भेदभाव के कृष्ण का भक्त हो सकता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि भगवान् कपिल द्वारा बतलाई गई अत्यन्त बौद्धिक सांख्य विधि में शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना तथा भगवत्प्रेम ही मुख्य निष्कर्ष होते हैं। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में भगवान् कपिल इस बात पर बल देते हैं कि शुद्ध भगवद्भक्तों की शरण ग्रहण की जाय। प्रस्तुत श्लोक में

भगवान् कृष्ण कहते हैं *सांख्ययोगविशारदा*—जो लोग शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण करने में दक्ष हैं और इस तरह इस जगत की वास्तविक स्थिति समझ सकते हैं, वे कृष्ण को साकार रूप में उनकी अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों समेत देख सकते हैं।

कोई गुरु अपने गुरु के पूर्ण शरणागत होकर प्रामाणिक बनता है, किन्तु जैसाकि इस अध्याय में बतलाया गया है, मनुष्य अपना ही गुरु भी बन सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिमान तथा संवेदनशील पुरुष इस जगत के स्वभाव को तथा अपनी सीमाओं को समझ सकता है। ऐसा व्यक्ति शुद्ध भगवद्भक्तों की संगति करने के लिए तथा कृष्णभावनामृत में अग्रणी लोगों की कृपा पाने के लिए अत्यधिक उन्मुख रहता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यहाँ पर जिस तरह *सांख्ययोग* वर्णित हुआ है, वह ज्ञानयोग की कठोर बौद्धिक प्रगति तथा भक्तियोग का जो शुद्ध भक्तों के चरणकमलों की कृपा पर बल देता है, द्योतक है।

वस्तुतः ज्ञानयोग भक्तियोग पद्धति में एक कारक होता है क्योंकि कृष्ण *ज्ञानगम्य* हैं अर्थात् समस्त ज्ञान के लक्ष्य हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में भी (१०.१०) कहा है कि वे निष्ठावान भक्त को सारा ज्ञान स्वयं प्रदान करते हैं। इस अध्याय में भगवान् कृष्ण उद्धव को भौतिक जगत में अपने नित्यप्रति के अनुभवों में भगवान् के साकार रूप को देखने का प्रशिक्षण दे रहे हैं। भगवान् ने पहले ही उद्धव से संकेत कर दिया है कि वे *समाधि* में सारे जगत का भ्रमण करेंगे और अब वे उद्धव को असली संन्यासी के रूप में भगवान् का सर्वत्र दर्शन करते हुए विचरण करने के लिए तैयारी करा रहे हैं।

एकद्वित्रिचतुस्पादो बहुपादस्तथापदः ।

बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

एक—एक; द्वि—दो; त्रि—तीन; चतुः—चार; पादः—पाँव से युक्त; बहु-पादः—अनेक पाँवों से युक्त; तथा—भी; अपदः—बिना पाँव के; बह्व्यः—अनेक; सन्ति—हैं; पुरः—विभिन्न प्रकार के शरीर; सृष्टाः—निर्मित; तासाम्—उनका; मे—मुझको; पौरुषी—मनुष्य-रूप; प्रिया—अत्यन्त प्रिय।

इस जगत में अनेक प्रकार के सृजित शरीर हैं—कुछ एक पाँव वाले, कुछ दो, तीन, चार या अधिक पाँवों वाले तथा अन्य बिना पाँव के हैं, किन्तु इन सबों में मनुष्य-रूप मुझे वास्तविक प्रिय है।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि का चरम लक्ष्य बद्धजीव को भगवद्धाम वापस जाने के लिए सुविधा प्रदान करना है। चूँकि बद्धजीव का ऐसा मोक्ष केवल मनुष्य-जीवन में सम्भव है, इसलिए स्वभावतः दयालु भगवान् को यह रूप विशेष प्रिय है।

अत्र मां मृगयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम् ।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैर्ग्राह्यमनुमानतः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अत्र—यहाँ (मनुष्य-रूप में); माम्—मुझे; मृगयन्ति—ढूँढते हैं; अद्धा—सीधे; युक्ताः—स्थित; हेतुभिः—प्रकट लक्षणों से; ईश्वरम्—ईश्वर को; गृह्यमाणैः गुणैः—अनुभव करने वाली बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों से; लिङ्गैः—तथा अप्रत्यक्ष रूप से निश्चित किये गये लक्षणों से; अग्राह्यम्—प्रत्यक्ष अनुभूति की पकड़ से परे; अनुमानतः—तर्क विधि से।

यद्यपि मुझ भगवान् को सामान्य इन्द्रिय अनुभूति से कभी पकड़ा नहीं जा सकता, किन्तु मनुष्य-जीवन को प्राप्त लोग प्रत्यक्ष रूप से मेरी खोज करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष निश्चित लक्षणों द्वारा अपनी बुद्धि तथा अन्य अनुभूति-इन्द्रियों का उपयोग कर सकते हैं।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक में युक्ताः शब्द उनका सूचक है, जो भक्तियोग के नियमित अभ्यास में लगे रहते हैं। भगवद्भक्त अपनी बुद्धि त्याग कर बुद्धिहीन मनचलों की तरह नहीं बन जाते, जैसाकि कुछ मूर्ख सोचते हैं। जैसाकि अनुमानतः तथा गुणैर्लिङ्गैः शब्दों से सूचित होता है, भक्तियोग में लगा भक्त मानव मस्तिष्क की सभी प्रतिभाओं के माध्यम से भगवान् की गहन खोज करता है। फिर भी मृगयन्ति शब्द किसी अनियमित या अवैध विधि का सूचक नहीं है। यदि हमें किसी विशेष व्यक्ति के फोन नम्बर की आवश्यकता होती है, तो हम प्रामाणिक टेलिफोन डाइरेक्टरी में देखते हैं। इसी तरह यदि हम किसी विशेष वस्तु की खोज कर रहे होते हैं, तो हम विशिष्ट स्टोर में जाते हैं, जहाँ खोजी जा रही वस्तु के होने की सम्भावना होती है। श्रील जीव गोस्वामी इंगितकरते हैं कि भगवान् कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, अतएव हम यह मनमानी कल्पना नहीं कर सकते कि भगवान् कैसा हो सकता है। अतएव कृष्ण के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की नियमित खोज करनी होगी। इस श्लोक में अग्राह्यम् शब्द यह सूचित करता है कि सामान्य कल्पना से या भौतिक इन्द्रियों के कार्यों द्वारा भगवान् कृष्ण को समझा या पाया नहीं जा सकता। इस सन्दर्भ में श्रील रूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु का (१.२.२३४) निम्नलिखित श्लोक देते हैं—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

“कोई भी व्यक्ति अपनी भौतिकता द्वारा दूषित इन्द्रियों से श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण तथा लीलाओं की दिव्य प्रकृति को नहीं समझ सकता। भगवद्भक्ति से पूर्णतया संतुष्ट होने पर ही उसे भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाएँ इत्यादि प्रकट होते हैं।

गृह्यमाणैः गुणैः शब्द मनुष्य के मस्तिष्क की तर्कशील तथा बौद्धिक विशिष्टताओं के सूचक हैं। इन सबों का उपयोग भगवान् को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से देखने में किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष रूप में मनुष्य भगवान् का अनुभव उनकी सृष्टि के माध्यम से कर सकता है। चूँकि हम इस जगत का अनुभव अपनी बुद्धि (तथा इन्द्रियों) से करते हैं अतएव हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि हमारी बुद्धि का भी कोई स्रष्टा है और वह स्रष्टा परम बुद्धिमान है। इस प्रकार सीधे-सादे तर्क से कोई भी विवेकवान् व्यक्ति यह समझ सकता है कि ऐसा एक भगवान् है, जो हर एक का नियंत्रण करता है।

भगवान् के नाम तथा यश के कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भी भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। श्रवणं कीर्तनं विष्णोः का अर्थ है कि मनुष्य को सदैव भगवान् के यश का कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। ठीक से श्रवण तथा कीर्तन करने वाले व्यक्ति को भगवान् का साक्षात्कार अवश्य होगा। कृष्ण सर्वव्यापक हैं, अतएव उनकी खोज सर्वत्र की जानी चाहिए। भक्तियोग द्वारा परिष्कृत दिव्य इन्द्रियों से मनुष्य भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त कर सकता है। जैसाकि इस श्लोक में अद्भुता शब्द से सूचित होता है, यह अनुभूति प्रत्यक्ष है, काल्पनिक नहीं। श्रील प्रभुपाद ने इसकी विशद व्याख्या श्रीमद्भागवत के इस श्लोक (२.२.३५) के तात्पर्य में की है—

भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।

दृश्यै बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः ॥

“भगवान् कृष्ण आत्मा समेत हर जीव में रहते हैं और यह तथ्य हमारे देखने तथा बुद्धि वाले कार्यों से अनुभव तथा कल्पित किया जाता है।”

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस विषय में; उदाहरन्ति—उदाहरण देते हैं; इमम्—इस; इतिहासम्—ऐतिहासिक वृत्तान्त को; पुरातनम्—प्राचीन; अवधूतस्य—सामान्य विधि-विधानों की परिधि से बाहर कार्य करने वाला पवित्र व्यक्ति; संवादम्—वार्ता को; यदोः—तथा राजा यदु की; अमित-तेजसः—असीम शक्ति वाले।

इस सम्बन्ध में साधु-पुरुष अत्यन्त शक्तिशाली राजा यदु तथा एक अवधूत से सम्बद्ध एक ऐतिहासिक वार्ता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव से यह कथा यह दिखाने के लिए बतलायेंगे कि किस तरह तर्कयुक्त बुद्धि का उपयोग भक्तियोग में वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है और किस तरह बुद्धिमान व्यक्ति अन्ततः भगवान् के चरणकमलों तक जाता है।

अवधूतं द्वियं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।

कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अवधूतम्—साधु; द्वियम्—ब्राह्मण को; कञ्चित्—कुछ; चरन्तम्—विचरण करते हुए; अकुतः-भयम्—किसी प्रकार के भय के बिना; कविम्—विद्वान्; निरीक्ष्य—देखकर; तरुणम्—युवा; यदुः—राजा यदु ने; पप्रच्छ—पूछा; धर्म-वित्—धार्मिक सिद्धान्तों में दक्ष।

महाराज यदु ने एक बार किसी ब्राह्मण अवधूत को देखा, जो तरुण तथा विद्वान् प्रतीत होता था और निर्भय होकर विचरण कर रहा था। आध्यात्मिक विज्ञान में अत्यन्त पारंगत होने के कारण राजा ने इस अवसर का लाभ उठाया और उसने इस प्रकार उससे पूछा।

श्रीयदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा ।

यामासाद्य भवाल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्री-यदुः उवाच—राजा यदु ने कहा; कुतः—कहाँ से; बुद्धिः—बुद्धि; इयम्—यह; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; अकर्तुः—किसी काम में न लगे रहने वाले के; सु-विशारदा—अत्यन्त विस्तृत; याम्—जो; आसाद्य—प्राप्त करके; भवान्—आप; लोकम्—संसार में; विद्वान्—ज्ञान से पूर्ण होकर; चरति—विचरण करता है; बाल-वत्—बालक के समान।

श्री यदु ने कहा : हे ब्राह्मण, मैं देख रहा हूँ कि आप किसी व्यावहारिक धार्मिक कृत्य में नहीं लगे हुए हैं, तो भी आपने इस जगत में सारी वस्तुओं तथा सारे लोगों की सही-सही जानकारी प्राप्त कर रखी है। हे महानुभाव, मुझे बतायें कि आपने यह असाधारण बुद्धि कैसे प्राप्त की है और आप सारे जगत में बच्चे की तरह मुक्त रूप से विचरण क्यों कर रहे हैं?

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः ।
हेतुनैव समीहन्त आयुषो यशसः श्रियः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

प्रायः—सामान्यतया; धर्म—धर्म; अर्थ—आर्थिक विकास; कामेषु—तथा इन्द्रियतृप्ति में; विवित्सायाम्—आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में; च—भी; मानवाः—मनुष्यगण; हेतुना—अभिप्राय के लिए; एव—निस्सन्देह; समीहन्ते—प्रयत्न करते हैं; आयुषः—दीर्घायु की; यशसः—यश की; श्रियः—तथा भौतिक ऐश्वर्य की।

सामान्यतया मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा आत्मा विषयक ज्ञान का अनुशीलन करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। उनका सामान्य मन्तव्य अपनी आयु को बढ़ाना, यश अर्जित करना तथा भौतिक ऐश्वर्य का भोग करना रहता है।

तात्पर्य : बुद्धिमान व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि यदि शरीर से पृथक् कोई नित्य आत्मा है, तो असली सुख प्रकृति के बन्धन से परे हमारी नित्य स्थिति में पाया जाता है। किन्तु सामान्य व्यक्ति आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते हुए भी, या तो विख्यात बनना चाहते हैं, या ऐसे आध्यात्मिक अभ्यासों से अपनी सम्पत्ति तथा आयु बढ़ाना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, अधिकांश सामान्यजन सोचते हैं कि योग-पद्धति मनुष्य का स्वास्थ्य सुधारने के लिए है, कि मनुष्य धन के लिए ईश्वर से प्रार्थना करे और मनुष्य का आध्यात्मिक ज्ञान समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए है। महाराज यदु यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि युवा ब्राह्मण अवधूत सामान्य व्यक्ति जैसा नहीं है, अपितु वह आध्यात्मिक पद को प्राप्त है, जैसाकि अगले श्लोकों में बतलाया जायेगा।

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; तु—फिर भी; कल्पः—सक्षम; कविः—विद्वान्; दक्षः—पटु; सु-भगः—सुन्दर; अमृत-भाषणः—अमृततुल्य वाणी से युक्त; न—नहीं; कर्ता—करने वाला; न ईहसे—तुम इच्छा नहीं करते; किञ्चित्—कोई भी वस्तु; जड—अचर; उन्मत्त—पागल बना हुआ; पिशाच-वत्—पिशाच के समान।

तथापि समर्थ, विद्वान्, दक्ष, सुन्दर तथा सुस्पष्ट वक्ता होते हुए भी आप न तो कोई काम करने में लगे हैं, न ही आप किसी वस्तु की इच्छा करते हैं, प्रत्युत जड़वत् तथा उन्मत्त प्रतीत होते हैं, मानो कोई पिशाच हो।

तात्पर्य : अज्ञानी लोग प्रायः सोचते हैं कि विरक्त आध्यात्मिक जीवन नपुंसकों, घर में रहने वालों या सांसारिक कार्यों में अकुशल लोगों के निमित्त है। कभी कभी मूर्ख लोग यह कहते हैं कि धार्मिक जीवन उन लोगों के लिए सहारा है, जो समाज में उच्च पद पाने के लिए पर्याप्त दक्ष नहीं हैं। इसीलिए राजा यदु ने साधु-ब्राह्मण के गुणों का वर्णन यहाँ पर यह दिखाने के लिए किया है कि ब्राह्मण ने संन्यास ग्रहण कर लिया है यद्यपि सांसारिक सफलता के लिए उसमें महान् क्षमता है। *अवधूत ब्राह्मण* को दक्ष, विद्वान, सुघड़, वक्ता तथा सांसारिक सफलता के लिए सब प्रकार से योग्य बतलाया गया है। तो भी वह अवधूत भौतिक जीवन त्याग कर कृष्णभावनामृत को अंगीकार किये हुए है। मनुष्य का असली कार्य है कि आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन के लिए वह भगवद्धाम जाय।

श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी एक ही साथ कृष्णभावनामृत का अनुशीलन तथा अन्यो को कृष्णभावनाभावित बनाने के लिए उपदेश-कार्य हेतु कठिन प्रयास करते हैं। प्रायः मूर्ख लोग भक्तों को यह कह कर चिढ़ाते हैं, “तुम कोई कार्य क्यों नहीं ढूँढ़ लेते?” वे सोचते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक प्रकाश के लिए निष्ठापूर्वक प्रयास करता है और अन्यो को प्रकाश देता है, वह कोई व्यावहारिक कार्य नहीं करता। मूर्ख भौतिकतावादी कुछ सप्ताह या कुछ महीनों के लिए आयु बढ़ा देने के लिए अस्पताल में लाखों डालर व्यय कर देंगे, किन्तु वे उसकी प्रशंसा नहीं करेंगे, जो शाश्वत जीवन के लिए प्रयत्नशील हैं। भौतिक जीवन में कोई वास्तविक तुक नहीं है। कृष्ण के बिना भोग करने का कार्य घोर अनैतिक है, इसलिए कृष्णभावनामृत से विहीन भौतिकतावादी जीवन में हमें कुछ भी तर्कयुक्त नहीं मिलेगा। अनेक कृष्ण-भक्त धनी, विद्वान तथा प्रतिष्ठाशाली परिवारों से आते हैं और वे अपना जीवन पूर्ण बनाने के लिए कृष्णभावनामृत स्वीकार करते हैं। वे किसी भौतिक उन्नति के लिए अवसर के अभाव से ऐसा नहीं करते। यद्यपि कभी कभी लोग सांसारिक कष्ट होने पर सहायता के लिए भगवान् के पास जाते हैं, किन्तु असली कृष्ण-भक्त स्वेच्छा से सारा भौतिक भोग, यह जानते हुए त्याग देता है कि एकमात्र कृष्ण-प्रेम तथा उनके चरणकमलों की सेवा ही, जीवन की असली सिद्धि हैं।

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।

न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाभःस्थ इव द्विपः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

जनेषु—समस्त लोगों के; दह्यमानेषु—जलते हुए भी; काम—काम; लोभ—तथा लालच की; दव-अग्निना—जंगल की आग द्वारा; न तप्यसे—जल नहीं जाते; अग्निना—अग्नि से; मुक्तः—स्वतंत्र; गङ्गा-अम्भः—गंगा के जल में; स्थः—खड़े; इव—मानो; द्विपः—हाथी।

यद्यपि भौतिक जगत में सारे लोग काम तथा लोभ की दावाग्नि में जल रहे हैं, किन्तु आप स्वतंत्र रह रहे हैं और उस अग्नि से जलते नहीं। आप उस हाथी के समान हैं, जो दावाग्नि से बचने के लिए गंगा नदी के जल के भीतर खड़े होकर आश्रय लिये हुये हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में दिव्य आनन्द के सहज परिणाम का वर्णन हुआ है। युवा ब्राह्मण शारीरिक रूप से अत्यन्त आकर्षक था और उसकी इन्द्रियाँ भौतिक भोग हेतु शक्ति से परिपूर्ण थीं, तो भी वह भौतिक भोग से तनिक भी प्रभावित नहीं था। यह स्थिति मुक्ति कहलाती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि गंगा के प्रवाह में जल की विशाल धाराएँ होती हैं, जो प्रज्वलित अग्नि को बुझाने में समर्थ होती हैं। यदि कोई हाथी कामोन्मत्त होकर गंगा के भीतर जाकर खड़ा हो जाता है, तो गंगा की शक्तिशाली शीतलकारी धाराएँ उसके काम को शमन कर देती हैं और हाथी शान्त हो जाता है। इसी तरह जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे सामान्य मनुष्य निरन्तर काम तथा लोभ रूपी शत्रुओं द्वारा तंग किये जाते हैं, जो मन को कभी पूरी तरह शान्त नहीं होने देते। किन्तु यदि कोई व्यक्ति हाथी के उदाहरण का पालन करते हुए दिव्य आनन्द की शीतलकारी लहरों में जाकर खड़ा हो जाता है, तो उसकी सारी भौतिक कामनाएँ तुरन्त ही छूमन्तर हो जायेंगी और मनुष्य शान्त बन जायेगा। जैसाकि श्री चैतन्य चरितामृत में कहा गया है—कृष्ण-भक्त निष्काम अतएव शान्त। इस तरह हर व्यक्ति को चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन को स्वीकार करना चाहिए और अपने को कृष्णभावनामृत के शीतलकारी जल से निर्मल करना चाहिए क्योंकि वही हमारी असली शाश्वत चेतना है।

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।

ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; हि—निश्चय ही; नः—हमसे; पृच्छताम्—पूछ रहे; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; आत्मनि—अपने भीतर; आनन्द—आनन्द के; कारणम्—कारण को; ब्रूहि—कहो; स्पर्श-विहीनस्य—भौतिक भोग के स्पर्श से विहीन; भवतः—आपका; केवल-आत्मनः—एकान्त में रहने वाले।

हे ब्राह्मण, हम देखते हैं कि आप भौतिक भोग से किसी प्रकार के स्पर्श से रहित हैं और बिना किसी संगी या पारिवारिक सदस्य के अकेले ही भ्रमण कर रहे हैं। चूँकि हम निष्ठापूर्वक

आपसे पूछ रहे हैं, इसलिए कृपा करके हमें अपने भीतर अनुभव किये जा रहे महान् आनन्द का कारण बतलायें।

तात्पर्य : यहाँ *केवलात्मनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब तक मनुष्य को परमात्मा तथा आत्मा की, जो हर जीव के हृदय में एकसाथ रहते हैं, व्यावहारिक अनुभूति नहीं होती, तब तक बनावटी तौर पर संन्यास आश्रम ग्रहण कर पाना और पत्नी, सन्तान या अन्य पारिवारिक सदस्यों की संगति के बिना यात्रा कर पाना अत्यन्त कठिन होता है। हर जीव का स्वभाव है कि वह अन्यो को अपना मित्र बनाता है और उपयुक्त जनों को अपना प्रेम प्रदान करता है। जिसे परम पुरुष की अनुभूति हो चुकती है, वह भगवान् को अपने हृदय में अपने नित्य संगी की तरह हृदय के भीतर वहन करता है। जब तक मनुष्य को यह अनुभूति नहीं हो जाती कि कृष्ण ही उसके एकमात्र असली मित्र हैं और कृष्ण उसके हृदय के भीतर हैं, तब तक वह भौतिक जगत के क्षणिक सम्बन्धों से लिप्त रहता है।

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्राह्मण्येन सुमेधसा ।

पृष्ठः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यदुना—राजा यदु द्वारा; एवम्—इस तरह से; महा-भागः—परम भाग्यशाली; ब्राह्मण्येन—ब्राह्मणों का आदर करने वाला; सु-मेधसा—तथा बुद्धिमान; पृष्ठः—पूछा; सभाजितः—सत्कार किया; प्राह—बोला; प्रश्रय—दीनतावश; अवनतम्—अपना सिर झुकाते हुए; द्विजः—ब्राह्मण ने।

भगवान् कृष्ण ने कहा : ब्राह्मणों का सदैव आदर करने वाला बुद्धिमान राजा यदु अपना सिर झुकाये हुए प्रतीक्षा करता रहा और वह ब्राह्मण राजा की मनोवृत्ति से प्रसन्न होकर उत्तर देने लगा।

श्रीब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन्बहवो बुद्ध्युपश्रिताः ।

यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह तान्शृणु ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; सन्ति—हैं; मे—मेरे; गुरवः—अनेक गुरु; राजन्—हे राजा; बहवः—अनेक; बुद्धि—मेरी बुद्धि; उपश्रिताः—शरणागत; यतः—जिससे; बुद्धिम्—बुद्धि के; उपादाय—प्राप्त करके; मुक्तः—मुक्त; अटामि—विचरण करता हूँ; इह—इस जगत में; तान्—उनको; शृणु—सुनो।

ब्राह्मण ने कहा : हे राजन्, मैंने अपनी बुद्धि से अनेक गुरुओं की शरण ली है। उनसे दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के बाद अब मैं मुक्त अवस्था में पृथ्वी पर विचरण करता हूँ। जिस रूप में मैं आपसे वर्णन करूँ, कृपा करके सुनें।

तात्पर्य : बुद्ध्युपाश्रिताः शब्द सूचित करता है कि ब्राह्मण के गुरुओं ने प्रत्यक्ष रूप से उससे नहीं कहा। अपितु उसने अपनी बुद्धि से उनसे सीखा। वे सारे जीव जो कृष्ण से शत्रुता रखते हैं, व्यर्थ की भौतिक वस्तुओं की स्तुति करते हैं और जिन वस्तुओं की झूठे ही पूजा करते हैं, उनके ऊपर अपना प्रभुत्व जताना चाहते हैं। इस तरह बद्धजीव सांसारिक धार्मिकता, आर्थिक विकास तथा स्थूल इन्द्रियतृप्ति द्वारा अपनी आयु के साथ ही यश तथा सौन्दर्य बढ़ाना चाहते हैं। राजा यदु ने देखा कि यह साधु अवधूत उस तरह से आचरण नहीं कर रहा है, इसलिए राजा उस ब्राह्मण की वास्तविक स्थिति जानने के लिए उत्सुक था। राजा को दिये जाने वाले उत्तर में साधु-ब्राह्मण कहता है, “मैं भौतिक जगत के २४ तत्त्वों को अपनी इन्द्रियतृप्ति के विषय नहीं मानता, अतएव उन्हें मानने या बहिष्कार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रत्युत मैं भौतिक तत्त्वों को अपने उपदेशक गुरु मानता हूँ। इस तरह सारे जगत में विचरण करते रहने पर भी मैं कभी गुरु-सेवा से वंचित नहीं हुआ हूँ। मैं अपनी आध्यात्मिक बुद्धि के सहारे निरन्तर पृथ्वी पर विचरण करता हूँ। बुद्धि से मैं व्यर्थ की इच्छाओं को लाँघता हूँ और मेरा चरम लक्ष्य भगवान् की प्रेमाभक्ति है। अब मैं आपको अपने चौबीस गुरुओं के विषय में बतलाऊँगा।”

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।

कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः ॥ ३३ ॥

मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।

कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥ ३४ ॥

एते मे गुरवो राजन्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।

शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पृथिवी—पृथ्वी; वायुः—वायु; आकाशम्—आकाश; आपः—जल; अग्निः—अग्नि; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; रविः—सूर्य; कपोतः—कबूतर; अजगरः—अजगर; सिन्धुः—समुद्र; पतङ्गः—पतंग; मधु-कृत्—शहद की मक्खी; गजः—हाथी; मधु-हा—शहद-चोर; हरिणः—हिरन; मीनः—मछली; पिङ्गला—पिंगला नामक वेश्या; कुररः—कुररी पक्षी; अर्भकः—बालक; कुमारी—तरुणी; शर-कृत्—बाण बनाने वाला; सर्पः—साँप; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; सुपेश-कृत्—बर; एते—ये; मे—मेरे; गुरवः—गुरु; राजन्—हे राजा; चतुः-विंशतिः—चौबीस; आश्रिताः—जिनकी शरण ली है; शिक्षा—उपदेश; वृत्तिभिः—कार्यों से; एतेषाम्—इनके; अन्वशिक्षम्—मैंने ठीक से सीखा है; इह—इस जीवन में; आत्मनः—आत्मा (अपने) के बारे में।

हे राजन्, मैंने चौबीस गुरुओं की शरण ली है। ये हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतिंगा, मधुमक्खी, हाथी, मधु-चोर, हिरण, मछली, पिंगला वेश्या, कुररी पक्षी, बालक, तरुणी, बाण बनाने वाला, साँप, मकड़ी तथा बर्। हे राजन्, इनके कार्यों का अध्ययन करके ही मैंने आत्म-ज्ञान सीखा है।

तात्पर्य : बर् को सुपेश-कृत् कहा जाता है, क्योंकि यह जिस कीड़े को मारता है, वह अगले जन्म में सुन्दर रूप प्राप्त करता है।

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; यत्—जो; अनुशिक्षामि—मैंने सीखा है; यथा—कैसे; वा—तथा; नाहुष-आत्म-ज—हे राजा नहुष (ययाति) के पुत्र; तत्—वह; तथा—इस प्रकार; पुरुष-व्याघ्र—हे पुरुषों में बाघ; निबोध—सुनो; कथयामि—कहूँगा; ते—तुमसे।

हे महाराज ययाति के पुत्र, हे पुरुषों में व्याघ्र, सुनो, क्योंकि मैंने इन गुरुओं से, जो सीखा है, उसे तुम्हें बतला रहा हूँ।

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः ।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

भूतैः—विभिन्न प्राणियों द्वारा; आक्रम्यमाणः—सताया जाकर; अपि—यद्यपि; धीरः—धीर; दैव—भाग्य के; वश—नियंत्रण; अनुगैः—अनुयायियों द्वारा; तत्—यह तथ्य; विद्वान्—जाननहारा; न चलेत्—विपथ नहीं होना चाहिए; मार्गात्—पथ से; अन्वशिक्षम्—मैंने सीखा है; क्षितेः—पृथ्वी से; व्रतम्—यह व्रत, दृढ़ अभ्यास।

अन्य जीवों द्वारा सताये जाने पर भी धीर व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि उसके उत्पीड़क ईश्वर के अधीन होकर असहाय रूप से कर्म कर रहे हैं। इस तरह उसे कभी अपने पथ की प्रगति से विपथ नहीं होना चाहिए। मैंने पृथ्वी से यह नियम सीखा है।

तात्पर्य : पृथ्वी सहनशीलता की प्रतीक है। आसुरी जीव तेल के गहरे कुएँ खोदकर, विस्फोटों, प्रदूषण इत्यादि से पृथ्वी को निरन्तर त्रस्त करते रहते हैं, कभी-कभी लालची व्यक्तियों द्वारा व्यापारिक लाभ के लिए हरे-भरे जंगल काट लिये जाते हैं, जिससे भूमि बंजर जाती है। कभी कभी नृशंस युद्ध में लड़ने वाले सिपाहियों के रक्त से पृथ्वी सन जाती है। इतने उत्पातों के बावजूद, पृथ्वी जीवों को सारी

सुविधाएँ प्रदान करती जाती है। इस तरह मनुष्य पृथ्वी का अध्ययन करके सहने की कला सीख सकता है।

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।

साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

शश्वत्—सदैव; पर—दूसरों के; अर्थ—हित के लिए; सर्व—ईहः—सारे प्रयास; पर-अर्थ—दूसरों का लाभ; एकान्त—अकेला; सम्भवः—जीवित रहने का कारण; साधुः—साधु-पुरुष; शिक्षेत—सीखना चाहिए; भू-भृत्तः—पहाड़ से; नग-शिष्यः—वृक्ष का शिष्य; पर-आत्मताम्—अन्यों के प्रति समर्पण।

सन्त-पुरुष को पर्वत से सीखना चाहिए कि वह अपने सारे प्रयास अन्यों की सेवा में लगाये और अन्यों के कल्याण को अपने जीवन का एकमात्र ध्येय बनाये। इसी तरह वृक्ष का शिष्य बनकर उसे स्वयं को अन्यों को समर्पित करना सीखना चाहिए।

तात्पर्य : विशाल पर्वतों में अपार मृदा रहती है, जिसमें असंख्य प्रकार का जीवन—वृक्ष, घास, पक्षी, पशु—पलता है। झरनों तथा नदियों के रूप में पर्वत प्रचुर मात्रा में स्वच्छ जल भी प्रदान करते हैं, जो सबों को जीवन देता है। पर्वतों से मनुष्य को समस्त जीवों को सुख देने की कला सीखनी चाहिए। इसी तरह पवित्र वृक्षों से भी उत्तम शिक्षाएँ ग्रहण की जा सकती हैं, जो हमें फल, फूल, शीतल छाया तथा औषधियों के रस प्रदान करने वाले हैं। जब वृक्ष को सहसा काट डाला जाता है और घसीटा जाता है, तो वह विरोध नहीं करता, अपितु ईंधन के रूप में अन्यों की सेवा करता है। इस तरह मनुष्य को ऐसे वदान्य वृक्षों का शिष्य बनकर उनसे सदाचार के गुण सीखने चाहिए।

श्रील मध्वाचार्य के अनुसार परार्थैकान्त सम्भवः शब्द यह सूचित करते हैं कि मनुष्य को चाहिए कि परोपकार में वह अपनी सारी सम्पत्ति तथा धन लगा दे। अपने अर्जित ऐश्वर्य से उसे गुरु तथा भगवान् को प्रसन्न करने का विशेष प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार देवता तथा उन्हीं के साथ सभी सच्चे तौर पर सम्मानित महापुरुष भी स्वतः प्रसन्न हो जायेंगे। इस श्लोक के अनुसार सन्त आचरण विकसित करने पर मनुष्य सहिष्णु बन जायेगा। इससे वह भौतिक इन्द्रियों के व्यर्थ विक्षोभ से बच जायेगा, जो मनुष्य को भौतिक सुख की खोज में विश्व-भर में भ्रमण करने के लिए बाध्य करती हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी वृक्ष की सहिष्णुता पर बल दिया है—*तरोरिव सहिष्णुना, कीर्तनीयः सदाहरिः।*

वृक्ष की भाँति सहिष्णु व्यक्ति ही कृष्ण-नाम का निरन्तर कीर्तन करते हुए नित-नवीन तुष्टि पा सकता है।

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्यन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः ।

ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

प्राण-वृत्त्या—प्राणों के कार्य करते रहने से; एव—ही; सन्तुष्यत्—सन्तुष्ट रहना चाहिए; मुनिः—मुनि; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; इन्द्रिय-प्रियैः—इन्द्रियों को तृप्त करने वाली वस्तुओं से; ज्ञानम्—चेतना; यथा—जिससे कि; न नश्येत—नष्ट न हो सके; न अवकीर्येत—क्षुब्ध न हो सके; वाक्—उसकी वाणी; मनः—तथा मन।

विद्वान् मुनि को चाहिए कि वह अपने सादे जीवन-यापन में ही तुष्टि माने। वह भौतिक इन्द्रियों की तृप्ति के द्वारा तुष्टि की खोज न करे। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को अपने शरीर की परवाह इस तरह करनी चाहिए कि उसका उच्चतर ज्ञान विनष्ट न हो और उसकी वाणी तथा मन आत्म-साक्षात्कार के मार्ग से विचलित न हों।

तात्पर्य : बुद्धिमान व्यक्ति कभी भी भौतिक इन्द्रियतृप्ति के रूप, स्वाद-गंध तथा उत्तेजना में अपनी चेतना को लीन नहीं करता, अपितु खाने तथा सोने जैसे कार्यों को जीवन-यापन के अनिवार्य कार्य मानता है। मनुष्य को चाहिए कि भोजन, निद्रा, सफाई इत्यादि के नियमित कार्यों द्वारा अपने शरीर का उचित निर्वाह करे, अन्यथा मस्तिष्क कमजोर पड़ जायेगा और उसका आध्यात्मिक ज्ञान फीका पड़ जायेगा। यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त संयमपूर्वक भोजन करता है या निस्वार्थता के नाम पर अशुद्ध भोजन करता है, तो उसके मन पर उसका नियंत्रण नहीं रह जाता। दूसरी ओर, यदि वह बहुत ही चर्बी वाला या गरिष्ठ भोजन करता है, तो उसमें अनावश्यक निद्रा तथा वीर्य की वृद्धि होगी, जिससे रजो तथा तमो-गुणों के कारण उसके मन तथा वाणी अभिभूत हो उठेंगे। इन सारी बातों को भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता में सार रूप में रख दिया है— युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। मनुष्य को चाहिए कि अपने सारे शारीरिक कार्यों को बुद्धिमत्तापूर्वक नियमित बनाये, जिससे वे आत्म-साक्षात्कार में सहायक बन सकें। यह विधि प्रामाणिक गुरु द्वारा सिखलाई जाती है। यदि कोई अत्यधिक संयमी बनता है या इन्द्रियतृप्ति में अत्यधिक लिप्त रहता है, तो आत्म-साक्षात्कार असम्भव है।

भगवद्भक्त का कर्तव्य है कि वह किसी भी वस्तु को भगवान् से पृथक् करके न देखे, क्योंकि यह मोह या माया है। कोई भी भद्र व्यक्ति किसी अन्य भद्र व्यक्ति की सम्पत्ति का भोग करना नहीं चाहेगा।

इसी तरह यदि हर वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित देखा जाय, तो इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई गुंजाईश नहीं रहती। किन्तु यदि भौतिक वस्तुओं को कृष्ण से विलग करके देखा जाता है, तो तुरन्त ही भौतिक भोग की लालसा जागृत हो उठती है। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि वह प्रेयस् (क्षणिक तृप्ति) तथा श्रेयस् (स्थायी लाभ) में अन्तर कर सके। मनुष्य चाहे तो नियमित तथा सीमित रूप से इन्द्रिय-कर्म स्वीकार कर सकता है, जिससे वह कृष्ण की सेवा करने के लिए बलवान् हो, किन्तु यदि वह इन्द्रियों में अत्यधिक लिप्त रहता है, तो आध्यात्मिक जीवन की उसकी गम्भीरता जाती रहेगी और वह सामान्य भौतिकतावादी की तरह कार्य करेगा। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है, चरम लक्ष्य तो ज्ञानम् अर्थात् परम सत्य भगवान् कृष्ण की स्थिर चेतना है।

विषयेष्वाविशन्योगी नानाधर्मेषु सर्वतः ।

गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

विषयेषु—भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में; आविशन्—प्रवेश करके; योगी—जिसने आत्म-संयम प्राप्त कर लिया है; नाना-धर्मेषु—विभिन्न गुणों वाले; सर्वतः—सर्वत्र; गुण—सद्गुण; दोष—तथा दोष; व्यपेत-आत्मा—वह व्यक्ति जिसने लाँघ लिया है; न विषज्जेत—नहीं फँसना चाहिए; वायु-वत्—वायु की तरह।

यहाँ तक कि योगी भी ऐसी असंख्य भौतिक वस्तुओं से घिरा रहता है, जिनमें अच्छे तथा बुरे गुण पाये जाते हैं। किन्तु जिसने भौतिक अच्छाई तथा बुराई लाँघ ली है, उसे भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में रहते हुए भी, उनमें फँसना नहीं चाहिए, प्रत्युत उसे वायु की तरह कार्य करना चाहिए।

तात्पर्य : वायु हवा का बाह्य स्वरूप है और प्राण आन्तरिक स्वरूप। जब वायु झरनों के ऊपर से बहती है, तो स्वच्छ जल की बूँदें अपने साथ लेकर मन को प्रसन्न करने वाली बन जाती है। कभी कभी वायु सुन्दर जंगल से होकर बहती है, तो वह फूलों-फलों की सुगन्धि ले लेती है, किन्तु वही वायु अन्य अवसर पर अग्नि को दहकाकर उसी जंगल को जला डालती है। किन्तु वायु अपने स्वभाव को बनाये रखकर शुभ तथा अशुभ कार्यों में निष्पक्ष बनी रहती है। इसी तरह हमें इस भौतिक जगत के भीतर हर्ष तथा विषाद दोनों ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। किन्तु यदि हम कृष्णभावनामृत में स्थिर रहें, तो हमें कोई भी अशुभ कार्य विचलित नहीं कर सकेगा, न ही हम किसी भौतिक शुभ कार्य में आसक्त होंगे। अपने आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करते समय कभी कभी भक्त हरे कृष्ण

कीर्तन करते हुए अपने को उत्तम ग्रामीण वातावरण में पाता है, तो कभी नारकीय शहरी अवस्था में। दोनों ही दशाओं में भक्त अपने मन को कृष्ण में स्थिर करके दिव्य आनन्द का अनुभव करता है। यद्यपि वायु गहरे से गहरे अंधकारमय तथा वर्जित स्थानों के ऊपर से गुजरती है, किन्तु वह विचलित या भयभीत नहीं होती। इसी तरह कृष्ण-भक्त को कभी भी भयभीत या चिन्तित नहीं होना चाहिए चाहे वह कितनी ही कठिन स्थिति में क्यों न हो। जो व्यक्ति मनोहारी रूप, स्वाद, गंध, ध्वनि तथा स्पर्श के प्रति लिप्त होता है, वह भी इनके विपरीत होने पर विकर्षित हो उठेगा। इस तरह भौतिकतावादी व्यक्ति अपने को असंख्य अच्छी तथा बुरी वस्तुओं से घिरा हुआ देखकर निरन्तर विचलित रहता है। जब वायु सहसा अनेक दिशाओं में बहने लगती है, तो वायु-मण्डल क्षुब्ध हो उठता है। इसी तरह यदि मन निरन्तर भौतिक वस्तुओं द्वारा आकर्षित-विकर्षित होता रहता है, तो मन में ऐसा तूफान उठता है कि परम सत्य का चिन्तन कर पाना असंभव हो जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह बहती वायु से बिना अनुरक्ति के भौतिक जगत में चलने-फिरने की कला सीखे।

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः ।

गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

पार्थिवेषु—पृथ्वी (तथा अन्य तत्त्वों) से बना; इह—इस संसार में; देहेषु—शरीरों में; प्रविष्टः—प्रवेश करके; तत्—उनके; गुण—लाक्षणिक गुण; आश्रयः—धारण करके; गुणैः—उन गुणों से; न युज्यते—अपने को फँसाता नहीं; योगी—योगी; गन्धैः—विभिन्न गंधों से; वायुः—वायु; इव—सदृश; आत्म-दृक्—अपने को ठीक से देखने वाला (इस पदार्थ से पृथक् रूप में)।

इस जगत में स्वरूपसिद्ध आत्मा विविध भौतिक शरीरों में उनके विविध गुणों तथा कार्यों का अनुभव करते हुए रह सकता है, किन्तु वह उनमें कभी उलझता नहीं, जिस तरह कि वायु विविध सुगंधों को वहन करती है, किन्तु वह उनमें घुल-मिल नहीं जाती।

तात्पर्य : यद्यपि हम वायु को उसके द्वारा वाहित गन्ध के अनुसार सुगन्धपूर्ण या दुर्गन्धपूर्ण अनुभव करते हैं, किन्तु वायु कभी भी अपने वास्तविक स्वभाव को नहीं बदलती। इसी तरह भले ही हम किसी व्यक्ति को सबल या निर्बल, बुद्धिमान या मन्द, सुन्दर या असुन्दर, अच्छा या बुरा कहें किन्तु शुद्ध आत्मा, जो कि वास्तविक पुरुष है, शरीर के किसी भी गुण से युक्त नहीं होता, अपितु उनके द्वारा प्रच्छन्न रहता है, जिस तरह वायु विभिन्न सुगन्धियों से आच्छादित रहती है। इस तरह कृष्णभावनाभावित

व्यक्ति सदैव जानता रहता है कि वह नश्वर शरीर से भिन्न है। वह बाल्यावस्था, कुमारावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था जैसे विविध शरीर-विकारों का अनुभव करता है और यद्यपि वह उस शरीर की पीड़ा, हर्ष, गुण तथा कर्म का अनुभव करता है, किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी अपने को शरीर नहीं सोचता। वह यही समझता रहता है कि वह नित्य आत्मा है और भगवान् कृष्ण का भिन्नांश है। निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को शारीरिक उपाधि के रूप में न माने, अपितु उसे भगवान् के नित्य सेवक के रूप में देखे।

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु

ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन ।

व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो

मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अन्तर्हितः—भीतर उपस्थित; च—भी; स्थिर—सारे जड़ जीव; जङ्गमेषु—तथा चेतन जीव; ब्रह्म-आत्म-भावेन—अपने को शुद्ध आत्मा अनुभव करते हुए; समन्वयेन—विभिन्न शरीरों के साथ भिन्न भिन्न सम्पर्कों के परिणामस्वरूप; व्याप्त्या—व्याप्त होने के कारण; अव्यवच्छेदम्—अविभक्त होने का गुण; असङ्गम्—लिप्त न रहने से; आत्मनः—परमात्मा से युक्त; मुनिः—मुनि; नभस्त्वम्—आकाश साम्य; विततस्य—विराट का; भावयेत्—ध्यान करना चाहिए।

भौतिक शरीर के भीतर रहते हुए भी विचारवान साधु को चाहिए कि वह अपने आपको शुद्ध आत्मा समझे। इसी तरह मनुष्य को देखना चाहिए कि आत्मा सभी प्रकार के सजीवों—चरों तथा अचरों के भीतर प्रवेश करता है और इस तरह व्यष्टि आत्मा सर्वव्यापी है। साधु को यह भी देखना चाहिए कि परमात्मा रूप में भगवान् एक ही समय सारी वस्तुओं के भीतर उपस्थित रहते हैं। आत्मा तथा परमात्मा को आकाश के स्वभाव से तुलना करके समझा जा सकता है। यद्यपि आकाश सर्वत्र फैला हुआ है और सारी वस्तुएँ आकाश के भीतर टिकी हैं किन्तु आकाश किसी भी वस्तु से न तो घुलता-मिलता है, न ही किसी वस्तु के द्वारा विभाजित किया जा सकता है।

तात्पर्य : यद्यपि वायु आकाश के अन्दर रहती है, किन्तु आकाश वायु से भिन्न रहता है। वायु की अनुपस्थिति में भी आकाश उपस्थित रहता है। सारी भौतिक वस्तुएँ विशाल भौतिक आकाश या दिक् के भीतर स्थित हैं, किन्तु आकाश अविभाज्य रहता है और सारी वस्तुओं को अपने भीतर समाये हुए भी, उनमें से किसी से भी मिश्रित नहीं होता। आत्मा तथा परमात्मा की भी स्थिति इसी तरह है। आत्मा

सर्वव्यापक है, क्योंकि जीवात्माएँ असंख्य हैं, जो समस्त वस्तुओं के भीतर प्रवेश करती हैं, फिर भी जैसाकि वैदिक वाङ्मय द्वारा पुष्टि हुई है, प्रत्येक व्यष्टिक आत्मा सूक्ष्म रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (५.९) में कहा गया है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चनन्त्याय कल्पते ॥

“यदि बाल के अगले भाग को सौ भागों में विभक्त किया जाय और इनमें से प्रत्येक भाग को फिर से सौ भागों में विभक्त किया जाय तो ऐसा प्रत्येक भाग आत्मा की माप होता है।” श्रीमद्भागवत में भी यही बात कही गई है—

केशाग्रशतभागस्य शतांश सादृशात्मकः ।

जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः ॥

“आध्यात्मिक अणुओं के असंख्य कण हैं, जो बाल के अग्र भाग के दस हजारवें भाग के तुल्य होते हैं।”

किन्तु भगवान् सर्वव्यापी हैं, क्योंकि वे साक्षात् सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। भगवान् अद्वैत अर्थात् अविभाज्य कहलाते हैं। इस तरह एक ही भगवान् आकाश की भाँति सर्वत्र विद्यमान रहता है फिर भी वह किसी वस्तु से लिप्त नहीं हैं यद्यपि हर वस्तु उन्हीं के भीतर टिकी है। स्वयं भगवान् ने भगवद्गीता (९.६) में अपने इस सर्वव्यापकत्व की विवेचना की पुष्टि की है—

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।

तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

“जिस प्रकार सर्वत्र प्रवाहमान प्रबल वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों को मुझमें स्थित जानो।”

अतः यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्मा सर्वव्यापी कहे जाते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि व्यष्टिक जीवात्माएँ असंख्य हैं, जबकि भगवान् एक है। भगवान् सदा महानतम हैं और जो वास्तव में विचारवान साधु होता है, वह भगवान् के परम पद के बारे में कभी शंका नहीं करता।

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मैघाद्यैर्वायुनेरितैः ।

न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तेजः—अग्नि; अप्—जल; अन्न—तथा पृथ्वी; मयैः—युक्त; भावैः—वस्तुओं से; मैघ-आद्यैः—बादल इत्यादि से; वायुना—वायु से; ईरितैः—उड़ाये जाने वाले; न स्पृश्यते—स्पर्श नहीं हो पाता; नभः—आकाश; तत्-वत्—उसी तरह से; काल-सृष्टैः—काल द्वारा भेजे गये; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा; पुमान्—मनुष्य ।

यद्यपि प्रबल वायु आकाश से होकर बादलों तथा झंझावातों को उड़ाती है, किन्तु आकाश इन कार्यों से कभी प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा भौतिक प्रकृति के स्पर्श से परिवर्तित या प्रभावित नहीं होती। यद्यपि जीव पृथ्वी, जल तथा अग्नि से बने शरीर में प्रवेश करता है और यद्यपि वह शाश्वत काल द्वारा उत्पन्न तीन गुणों के द्वारा बाध्य किया जाता है, किन्तु उसका शाश्वत आध्यात्मिक स्वभाव कभी भी प्रभावित नहीं होता।

तात्पर्य : यद्यपि ऐसा लगता है कि वायु, वर्षा, अंधड़, बिजली तथा गर्जन इत्यादि की प्रबल गतिविधियों से आकाश प्रभावित हो रहा है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण आकाश प्रभावित नहीं होता, अपितु वह ऐसे दृश्य कार्यकलापों के लिए पृष्ठभूमि है। इसी प्रकार यद्यपि भौतिक शरीर और मन में असंख्य परिवर्तन आते हैं, जैसे जन्म-मृत्यु, सुख-दुख, प्रेम-घृणा, किन्तु शाश्वत जीव तो इन कार्यकलापों की पृष्ठभूमि मात्र है। सूक्ष्म होने के कारण आत्मा प्रभावित नहीं होता। मात्र शरीर तथा मन के ऊपरी कार्यों की गलत पहचान से जीवात्मा को भौतिक जगत में घोर यातना सहनी पड़ती है।

इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने इंगित किया है कि प्रत्येक जीव को अपने दैवी आध्यात्मिक गुण फिर से पाने के लिए संघर्ष करना चाहिए। जीव परम पुरुष कृष्ण का अंश है, फलतः आत्मा भी दैवी गुणों का आगार है। किन्तु भगवान् बिना किसी अवरोध के इन गुणों को स्वतः प्रकट करते हैं जबकि बद्धजीव को इन गुणों को पुनरुज्जीवित करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस तरह भगवान् तथा जीव दोनों शाश्वत तथा दिव्य हैं, किन्तु भगवान् सदैव सर्वश्रेष्ठ हैं। स्वच्छ बुद्धि से ऐसी अनुभूति होने पर ही बद्धजीव आध्यात्मिक पद तक उठ सकता है।

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।

मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

स्वच्छः—शुद्ध; प्रकृतितः—प्रकृति से; स्निग्धः—कोमल या कोमल हृदय वाला; माधुर्यः—मधुर या मधुर वाणी; तीर्थ-भूः—तीर्थस्थान; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; मुनिः—मुनि; पुनाति—पवित्र करता है; अपाम्—जल का; मित्रम्—प्रतिरूप; ईक्षा—देखे जाने से; उपस्पर्श—सादर स्पर्श होने से; कीर्तनैः—तथा वाणी से प्रशंसित किये जाने से।

हे राजन्, सन्त-पुरुष जल के सदृश होता है, क्योंकि वह कल्मषरहित, स्वभाव से मृदुल तथा बोलने में बहते जल की कलकल ध्वनि सदृश होता है। ऐसे सन्त-पुरुष के दर्शन, स्पर्श या श्रवण मात्र से ही जीव उसी तरह पवित्र हो जाता है, जिस तरह शुद्ध जल का स्पर्श करने से मनुष्य स्वच्छ हो जाता है। इस तरह सन्त-पुरुष तीर्थस्थान की तरह उन सबों को शुद्ध बनाता है, जो उसके सम्पर्क में आते हैं, क्योंकि वह सदैव भगवान् की महिमा का कीर्तन करता है।

तात्पर्य : अपाम् मित्रम् का दूसरा पाठ अघान् मित्रम् भी मिलता है, जिसका अर्थ है कि सन्त-पुरुष सारे जीवों को अपने मित्र रूप में स्वीकार करके, उन्हें पवित्र बनाता है और उनके पापकर्मों से उन्हें (अघात्) बचाता है। बद्धजीव झूठे ही अपने स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन से अपनी पहचान मानकर आध्यात्मिक ज्ञान के पद से नीचे गिर जाता है। बद्धजीव सदैव भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लिए भूखा रहता है और उसकी पूर्ति न होने पर वह कुपित हो जाता है। कभी कभी वह अपनी भौतिक तृप्ति से वंचित होने के भय से इतना त्रस्त हो जाता है कि पागलपन की स्थिति में आ जाता है।

किन्तु सन्त-पुरुष शुद्ध जल के समान समस्त कल्मष से रहित होता है और सारी वस्तुओं को शुद्ध करने की क्षमता रखता है। जिस तरह स्वच्छ जल पारदर्शी होता है उसी तरह सन्त-पुरुष अपने हृदय के भीतर से भगवान् को झलकाता रहता है। जिस तरह जल कलकल ध्वनि करके बहता है, उसी तरह भगवान् की महिमा से सराबोर भगवद्भक्त की वाणी अत्यन्त मनोहारी तथा सुन्दर होती है। इस प्रकार जल के स्वभाव का अध्ययन करके भगवान् के शुद्ध भक्त के लक्षणों को समझा जा सकता है।

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः ।

सर्वभक्ष्योऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तेजस्वी—तेजवान्; तपसा—अपनी तपस्या से; दीप्तः—चमकता हुआ; दुर्धर्ष—अचल; उदर-भाजनः—पेट पालने के लिए ही खाने वाला; सर्व—हर वस्तु; भक्ष्यः—खाते हुए; अपि—यद्यपि; युक्त-आत्मा—आध्यात्मिक जीवन में स्थिर; न आदत्ते—धारण नहीं करता; मलम्—कल्मष; अग्नि-वत्—अग्नि की तरह।

सन्त-पुरुष तपस्या करके शक्तिमान बनते हैं। उनकी चेतना अविचल रहती है क्योंकि वे भौतिक जगत की किसी भी वस्तु का भोग नहीं करना चाहते। ऐसे सहज मुक्त सन्त-पुरुष भाग्य

द्वारा प्रदत्त भोजन को स्वीकार करते हैं और यदि कदाचित् दूषित भोजन कर भी लें तो उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिस तरह अग्नि उन दूषित वस्तुओं को जला देती है, जो उसमें डाली जाती हैं।

तात्पर्य : उदर-भाजन शब्द यह बतलाता है कि सन्त-पुरुष इन्द्रियलृप्ति के लिए नहीं अपितु उदर-पोषण के लिए ही भोजन करता है। मनुष्य को अपना मन प्रसन्न रखने के लिए स्वादिष्ट भोजन करना चाहिए फिर भी उसे बहुत विलासी भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे कामोत्तेजा उत्पन्न होगी और आलस्य सतायेगा। सन्त-पुरुष पूरी तरह से भद्रजन होता है और कभी भी लोभी या कामी नहीं होता। यद्यपि माया विभिन्न प्रकार के भौतिक प्रलोभन देकर उसे पराजित करना चाहती है किन्तु सन्त-पुरुष की आध्यात्मिक शक्ति से ये सारे आकर्षण स्वतः परास्त हो जाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से बढ़े-चढ़े पुरुष का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए, वरन् आदरपूर्वक उसकी पूजा करनी चाहिए। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के पास असावधानी के साथ जाना अग्नि के पास असावधानी से जाने के समान है, जो तुरन्त ही जला देती है, यदि उसके साथ सावधानी न बरती जाए। शुद्ध भक्त के प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार को भगवान् कभी माफ नहीं करते।

क्वचिच्छन्नः क्वचित्स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम् ।

भुङ्क्ते सर्वत्र दातृणां दहन्प्रागुत्तराशुभम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; छन्नः—ढका हुआ; क्वचित्—कभी; स्पष्टः—प्रकट; उपास्यः—पूज्य; श्रेयः—सर्वोच्च मंगल; इच्छताम्—चाहने वालों के लिए; भुङ्क्ते—निगल जाता है; सर्वत्र—सभी दिशाओं में; दातृणाम्—बलि चढ़ाने वालों के; दहन्—जलाते हुए; प्राक्—विगत; उत्तर—तथा भविष्य; अशुभम्—पापों को।

सन्त-पुरुष अग्नि के ही समान, कभी प्रच्छन्न रूप में, तो कभी प्रकट रूप में दिखता है। असली सुख चाहने वाले बद्धजीवों के कल्याण हेतु सन्त-पुरुष गुरु का पूजनीय पद स्वीकार कर सकता है और इस तरह वह अग्नि के सदृश अपने पूजकों की बलियों को दयापूर्वक स्वीकार करके विगत तथा भावी पापों को भस्म कर देता है।

तात्पर्य : सन्त-पुरुष अपने उच्च पद को प्रच्छन्न रखना पसन्द करता है, किन्तु कष्ट भोग रहे लोगों को उपदेश देने के लिए कभी कभी वह अपनी महानता प्रकट कर देता है। इसकी तुलना उस अग्नि से की जा सकती है, जो कभी कभी राख के भीतर बिना देखे हुए जलती है, किन्तु कभी कभी खुल कर

जलने लगती है। जिस तरह अग्नि यज्ञकर्ता द्वारा अग्नि में डाले गये घी तथा अन्य बलियों को लील जाती है, उसी तरह सन्त-पुरुष अपने बद्ध अनुयायियों द्वारा की गई प्रशंसा को यह जानते हुए भी स्वीकार करता है कि यह सारी प्रशंसा वास्तव में भगवान् कृष्ण के निमित्त है। यद्यपि सामान्य व्यक्ति प्रशंसा किये जाने पर फूलकर कुप्पा हो जाता है और मूर्ख बनता है, किन्तु परम सत्य के प्रति अनुरक्त होने से सन्त-पुरुष में ऐसी अशुभ प्रवृत्तियाँ भस्म हो जाती हैं। इस तरह वह अग्नि जैसा होता है।

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः ।

प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

स्व-मायया—अपनी माया से; सृष्टम्—सृजित; इदम्—यह (जीव का शरीर); सत्-असत्—देवता, पशु इत्यादि के रूप में; लक्षणम्—लक्षणों से युक्त; विभुः—सर्वशक्तिमान; प्रविष्टः—प्रवेश करके; ईयते—प्रकट होता है; तत्-तत्—उसी-उसी रूप में; स्वरूपः—पहचान बनाकर; अग्निः—अग्नि के; इव—सदृश; एधसि—ईधन में।

जिस तरह अग्नि विभिन्न आकारों तथा गुणों वाले काष्ठ-खण्डों में भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होती है, उसी तरह सर्वशक्तिमान परमात्मा अपनी शक्ति से उत्पन्न किये गये उच्च तथा निम्न योनियों के शरीरों में प्रवेश करके प्रत्येक के स्वरूप को ग्रहण करता प्रतीत होता है।

तात्पर्य : यद्यपि परमेश्वर हर वस्तु के भीतर है, किन्तु प्रत्येक वस्तु परमेश्वर नहीं होती। भगवान् सतोगुण से देवताओं तथा ब्राह्मणों के शरीर को उत्पन्न करते हैं। उसी तरह वे तमोगुण का विस्तार करके पशुओं, शूद्रों तथा अन्य निम्न जीवों को उत्पन्न करते हैं। भगवान् इन सारी उच्च तथा निम्न सृष्टियों में प्रवेश करते हैं, किन्तु वे विभु अर्थात् सर्वशक्तिमान भगवान् बने रहते हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर बतलाते हैं कि यद्यपि सुलगते काष्ठ के भीतर अग्नि उपस्थित रहती है किन्तु अच्छी तरह हिलाने पर ही वह जलने लगती है। इसी तरह यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष रूप से सर्वत्र उपस्थित हैं, किन्तु जब हम कीर्तन करते हैं और उनकी महिमा का प्रेम और भक्तिपूर्वक श्रवण करते हैं, तो भगवान् अपने भक्तों के समक्ष प्रकट हाते हैं।

मूर्ख बद्धजीव हर एक के भीतर भगवान् की उपस्थिति की उपेक्षा करते हैं और अपनी मध्यम दर्जे की चेतना को अपने नश्वर भौतिक आवरण में ही लीन किये यह सोचते रहते हैं, “मैं प्रबल पुरुष हूँ, मैं सुन्दर स्त्री हूँ, मैं इस नगर का सबसे धनी व्यक्ति हूँ और मैं पी. एच. डी हूँ इत्यादि, इत्यादि। मनुष्य

को व्यर्थ के उलझाव का परित्याग कर देना चाहिए इस यथार्थ को स्वीकार कर लेना चाहिए कि मनुष्य विशुद्ध आत्मा, भगवान् कृष्ण का नित्य आनन्दमय दास है।

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः ।

कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

विसर्ग—जन्म; आद्याः—इत्यादि; श्मशान—मृत्यु का समय, जब शरीर भस्म कर दिया जाता है; अन्ताः—अन्तिम; भावाः—दशाएँ; देहस्य—शरीर की; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा का; कलानाम्—विभिन्न अवस्थाओं का; इव—सदृश; चन्द्रस्य—चन्द्रमा की; कालेन—समय के साथ; अव्यक्त—न दिखने वाला; वर्त्मना—गति से।

जन्म से लेकर मृत्यु तक भौतिक जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ शरीर के गुणधर्म हैं और ये आत्मा को उसी तरह प्रभावित नहीं करतीं, जिस तरह चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाएँ चन्द्रमा को प्रभावित नहीं करतीं। ऐसे परिवर्तन काल की अव्यक्त गति द्वारा लागू किये जाते हैं।

तात्पर्य : शरीर में छह परिवर्तन होते हैं—जन्म, वृद्धि, पालन, विकारों की उत्पत्ति, क्षीणता तथा मृत्यु। इसी तरह चन्द्रमा पहले बढ़ता है, फिर घटता है और अन्त में विलोप होता प्रतीत होता है। चूँकि चाँदनी सूर्य-प्रकाश का प्रतिबिम्ब है, इसलिए यह समझा जाता है कि चन्द्रमा अपने आप नहीं बढ़ता-घटता अपितु हम चाँद के प्रतिबिम्ब को विभिन्न कलाओं में देखते हैं। इसी तरह नित्य आत्मा न तो जन्म लेता है, न मरता है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता (२.२०) में हुई है—*न जायते म्रियते वा कदाचित्।* हम आत्मा के प्रतिबिम्ब को स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म मन के रूप में देखते हैं, जिनमें कई भौतिक परिवर्तन होते रहते हैं।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार सूर्य एक अग्नितुल्य लोक है और चन्द्रमा जलमय लोक है। इसकी पुष्टि श्रील जीव गोस्वामी द्वारा भी की जाती है। इससे चन्द्रलोक की वास्तविक स्थिति के विषय में आधुनिक विज्ञान के अज्ञान का प्रदर्शन होता है।

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ ।

नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

कालेन—समय के द्वारा; हि—निस्सन्देह; ओघ—बाढ़ के सदृश; वेगेन—चाल से; भूतानाम्—जीवों के; प्रभव—जन्म; अप्ययौ—तथा मृत्यु; नित्यौ—स्थायी; अपि—यद्यपि; न दृश्येते—नहीं देखे जाते; आत्मनः—आत्मा के; अग्नेः—अग्नि की; यथा—जिस तरह; अर्चिषाम्—लपटों को।

अग्नि की लपटें प्रतिक्षण प्रकट तथा लुप्त होती रहती हैं, और यह सृजन तथा विनाश सामान्य प्रेक्षकों द्वारा देखा नहीं जाता। इसी तरह काल की बलशाली लहरें नदी की प्रबल धाराओं की तरह निरन्तर बहती रहती हैं और अव्यक्त रूप से असंख्य भौतिक शरीरों को जन्म, वृद्धि तथा मृत्यु प्रदान करती रहती हैं। फिर भी आत्मा, जिसे निरन्तर अपनी स्थिति बदलनी पड़ती है, काल की करतूतों को देख नहीं पाता।

तात्पर्य : राजा यदु को उपदेश देते हुए ब्राह्मण अवधूत चन्द्रमा का उदाहरण देने के बाद पुनः अग्नि के उदाहरण पर उतर आता है। यह वैश्लेषिक विधि *सिंहावलोकन* कहलाती है, जिसमें एक ही साथ आगे तथा पीछे की ओर नजरें डालकर देखा जाता है कि कहीं कुछ छूट तो नहीं गया। इस तरह वह मुनि विश्लेषण को आगे बढ़ाता है, किन्तु त्याग की आवश्यकता बतलाने के लिए पुनः अग्नि के उदाहरण पर लौट आता है। भौतिक शरीर निश्चित रूप से क्षणभंगुर है और भगवान् की बहिरंगा शक्ति का मायाजाल है। अग्नि की लपटें निरन्तर उत्पन्न और लुप्त होती रहती हैं, फिर भी अग्नि को हम सतत सचाई के रूप में अनुभव करते हैं। इसी तरह आत्मा सतत सच्चाई है, यद्यपि समय के प्रभाव से उसके भौतिक शरीर निरन्तर प्रकट तथा लुप्त होते रहते हैं। कहा जाता है कि सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि कोई यह नहीं सोचता कि उसे मरना पड़ेगा। चूँकि आत्मा नित्य है, इसलिए जीव किसी भी क्षणिक स्थिति को स्थायी मानने के लिए तैयार रहता है और यह भूल जाता है कि उसके नित्य स्वभाव को वैकुण्ठ-लोक के शाश्वत वातावरण में ही ठीक ढंग से अनुभव किया जा सकता है। यदि मनुष्य को इस तथ्य में विश्वास हो जाता है, तो उसमें *वैराग्य* गुण उत्पन्न होता है।

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति ।

न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

गुणैः—अपनी इन्द्रियों से; गुणान्—इन्द्रिय-विषयों को; उपादत्ते—स्वीकार करता है; यथा—कालम्—उपयुक्त समय पर; विमुञ्चति—छोड़ देता है; न—नहीं; तेषु—उनमें; युज्यते—फँस जाता है; योगी—स्वरूपसिद्ध मुनि; गोभिः—अपनी किरणों से; गाः—जलाशयों; इव—सदृश; गो-पतिः—सूर्य।

जिस तरह सूर्य अपनी प्रखर किरणों से पर्याप्त मात्रा में जल को भाप बना कर उड़ा देता है और बाद में उस जल को वर्षा के रूप में पृथ्वी पर लौटा देता है, उसी तरह सन्त-पुरुष अपनी भौतिक इन्द्रियों से सभी प्रकार की भौतिक वस्तुओं को स्वीकार करता है और जब सही व्यक्ति

उन्हें लौटवाने के लिए उसके पास जाता है, तो उन भौतिक वस्तुओं को वह लौटा देता है। इस तरह वह इन्द्रिय-विषयों को स्वीकारने तथा त्यागने दोनों में ही फँसता नहीं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रसार हेतु भगवान् कृष्ण के द्वारा सौंपे गये ऐश्वर्य के ऊपर अपना प्रभुत्व नहीं जताता। भगवान् कृष्ण के भक्त को चाहिए कि न केवल भौतिक सम्पदा का संग्रह करे, अपितु भगवान् कृष्ण के ऐश्वर्य को इस तरह बाँट दे कि कृष्णभावनामृत आन्दोलन असीम रूप से फैल जाय। सूर्य से यही शिक्षा लेनी चाहिए।

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।

लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

बुध्यते—सोचा जाता है; स्वे—अपने मूल रूप में; न—नहीं; भेदेन—विविधता से; व्यक्ति—पृथक् प्रतिबिम्बित पदार्थों पर; स्थः—स्थित; इव—ऊपर से; तत्-गतः—उनके भीतर प्रवेश करके; लक्ष्यते—प्रकट होता है; स्थूल-मतिभिः—मन्द बुद्धि वालों के लिए; आत्मा—आत्मा; च—भी; अवस्थितः—स्थित; अर्कवत्—सूर्य की तरह।

विविध वस्तुओं से परावर्तित होने पर भी सूर्य न तो कभी विभक्त होता है, न अपने प्रतिबिम्ब में लीन होता है। जो मन्द बुद्धि वाले हैं, वे ही सूर्य के विषय में ऐसा सोचते हैं। इसी प्रकार आत्मा विभिन्न भौतिक शरीरों से प्रतिबिम्बित होते हुए भी अविभाजित तथा अभौतिक रहता है।

तात्पर्य : सूर्य अनेक वस्तुओं में यथा खिड़की, दर्पण, चमकदार धातु, तेल, जल इत्यादि में प्रतिबिम्बित होता है, तो भी सूर्य एक तथा अविभाज्य रहता है। इसी तरह शरीर के भीतर नित्य आत्मा भौतिक शरीर के पर्दे से होकर प्रतिबिम्बित होता रहता है। इस तरह आत्मा वृद्ध या युवा, मोटा या दुबला, सुखी या दुखी प्रतीत होता है। भले ही आत्मा अमरीकी, रूसी, अफ्रीकी, हिन्दू या ईसाई प्रतीत हो, किन्तु फिर भी आत्मा अपने सहज रूप में किसी भी भौतिक उपाधि से रहित होता है।

इस श्लोक में स्थूल-मतिभिः शब्द उनका सूचक है, जिनकी बुद्धि स्थूल तथा मन्द है। हमें एक कुत्ते का व्यावहारिक अनुभव है, जो खुले स्थान पर किसी बाहर लगी कला प्रदर्शनी के किसी अमूल्य चित्र पर पेशाब कर रहा था। मन्द बुद्धि होने से कुत्ते को चित्र के वास्तविक मूल्य का पता नहीं था। इसी तरह जब तक कोई मनुष्य कृष्णभावनामृत ग्रहण नहीं करता, तब तक वह मनुष्य-जीवन के अमूल्य अवसर का दुरुपयोग करता है। मनुष्य-जीवन आत्म-साक्षात्कार के लिए मिला है, अतः हमें अपना समय पूँजीवादी, साम्यवादी, अमरीकी, रूसी, इत्यादि भौतिक उपाधियों के बारे में लड़ने-

झगड़ने में नहीं बिताना चाहिए, अपितु सारे लोगों को चाहिए कि ईश्वर की प्रेमाभक्ति ग्रहण करके अपने नित्य शुद्ध स्वरूप का अनुभव करें। मनुष्य को चाहिए कि सूर्य को प्रत्यक्ष देखकर उसे समझें, न कि भौतिक वस्तुओं में पड़ने वाले उसके विकृत प्रतिबिम्बों के द्वारा। इसी तरह मनुष्य को चाहिए कि प्रत्येक जीव को उसके शुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में पहचाने, न कि भौतिक उपाधियों के विकृत रूपों से।

इस श्लोक में भी *आत्मा* शब्द भगवान् का द्योतक है। जिस तरह हम सामान्य जीवात्माओं को भौतिक शरीर के प्रतिबिम्बों से होकर देखते हैं, उसी तरह हम भगवान् को अपने भौतिक मन के विकृत करने वाले परदे से होकर देखते हैं। इस प्रकार हम ईश्वर को निर्विशेष, भौतिक या अज्ञेय मानते हैं। जब आकाश बादल से ढका रहता है, तो सूर्य की सर्वोच्च सम्भव अनुभूति धूप है, जो बादलों से ढकी है। इसी तरह जब मनुष्य का मन मनोरथ के कुहासे से ढका रहता है, तो वह ईश्वर के दिव्य शरीर से निकलने वाले प्रकाश को ही सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य मान बैठता है। किन्तु जब मन नीले मेघरहित आकाश की तरह निर्मल रहता है, तो वह भगवान् कृष्ण के वास्तविक रूप को देख सकता है। परम सत्य को बद्धजीव के प्रच्छन्न मन द्वारा भलीभाँति नहीं समझा जा सकता, प्रत्युत मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध कृष्णभावनामृत रूपी निर्मल नीले आकाश से होकर देखे, जो सकाम इच्छाओं तथा मनोरथों से मुक्त है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का गीत है—

जीवेर कल्याणसाधन-काम

जगते आसि ए मधुरनाम ।

अविद्या-तिमिर-तापन-रूपे

हृद-गगने विराजे ॥

“भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम बद्धजीवों को वर देने के लिए ही भौतिक जगत के अंधकार में उतरता है। भगवान् कृष्ण का पवित्र नाम उस सूर्य के समान है, जो भक्तों के हृदय रूपी निर्मल आकाश में उदय होता है। ऐसा तेजस्वी ज्ञान उन लोगों की समझ में नहीं आयेगा, जो शुद्धता या नास्तिकता के नाम पर ईश्वर की भौतिक सृष्टि का दोहन करने में लगे हैं। मनुष्य को पहले कृष्ण का शुद्ध भक्त बनना

होगा तब उसका ज्ञान हर वस्तु को चतुर्दिक् प्रकाशित करेगा—*कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति* (मुण्डक उपनिषद् १.३) ।

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन्विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अति-स्नेहः—अत्यधिक स्नेह; प्रसङ्गः—घनिष्ठ संग; वा—अथवा; कर्तव्यः—प्रकट करना चाहिए; क्व अपि—कभी; केनचित्—किसी से; कुर्वन्—ऐसा करते हुए; विन्देत—अनुभव करेगा; सन्तापम्—महान् दुख; कपोतः—कबूतर; इव—सदृश; दीन-धीः—मन्द बुद्धि ।

मनुष्य को चाहिए कि किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के लिए अत्यधिक स्नेह या चिन्ता न करे। अन्यथा उसे महान् दुख भोगना पड़ेगा, जिस तरह कि मूर्ख कबूतर भोगता है।

तात्पर्य : संस्कृत में *अति* उपसर्ग ऐसे स्नेह या लगाव को सूचित करता है, जिसमें कृष्णभावनामृत नहीं होता। *भगवद्गीता* (५.२९) में भगवान् कृष्ण कहते हैं *सुहृदं सर्वभूतानाम्*—भगवान् प्रत्येक जीव के नित्य हितैषी हैं। भगवान् इतने स्नेहिल हैं कि वे प्रत्येक बद्धजीव के हृदय में स्थित रहते हैं और माया के राज्य में उसकी पूरी अनन्त यात्रा में उसके साथ रहकर धैर्यपूर्वक बद्धजीव के भगवद्धाम वापस जाने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। इस तरह भगवान् प्रत्येक जीव के शाश्वत सुख के लिए सारी व्यवस्था करते हैं। समस्त प्राणियों के प्रति दया तथा स्नेह प्रदर्शित करने का सर्वोत्तम तरीका है कृष्ण की ओर से उपदेशक बन जाना और पतितात्माओं का उद्धार करने में भगवान् की मदद करना। यदि अन्यो के प्रति हमारा स्नेह या अनुराग शारीरिक इन्द्रियतृप्ति पर, समाज, मैत्री तथा प्रेम के नाम पर आधारित है, तो वह *अति स्नेह*, सम्बन्ध टूटते समय, विकट पीड़ा उत्पन्न करेगा। अब मूर्ख कबूतर की कथा बतलाई जायेगी। ऐसी ही कथा *श्रीमद्भागवत* के सप्तम स्कंध के द्वितीय अध्याय में यमराज द्वारा राजा सुयज्ञ की शोकातुर विधवा पत्नियों से कही गई है।

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।

कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित्समाः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

कपोतः—कबूतर ने; कश्चन—किसी; अरण्ये—जंगल में; कृत-नीडः—अपना घोंसला बनाकर; वनस्पतौ—वृक्ष में; कपोत्या—कबूतरी के साथ; भार्यया—अपनी पत्नी; स-अर्धम्—अपने संगी के रूप में; उवास—रहने लगा; कतिचित्—कुछ; समाः—वर्षों तक ।

एक कबूतर था, जो अपनी पत्नी के साथ जंगल में रहता था। उसने एक वृक्ष के भीतर अपना घोंसला बनाया और कबूतरी के साथ कई वर्षों तक वहाँ रहता रहा।

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।

दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

कपोतौ—कबूतर का जोड़ा; स्नेह—स्नेह से; गुणित—मानो रस्सी से बँधे हुए; हृदयौ—उनके हृदय; गृह-धर्मिणौ—अनुरक्त गृहस्थ; दृष्टिम्—दृष्टि; दृष्ट्या—चितवन से; अङ्गम्—शरीर को; अङ्गेन—दूसरे के शरीर से; बुद्धिम्—मन; बुद्ध्या—दूसरे के मन से; बबन्धतुः—एक-दूसरे को बाँध लिया।

कबूतर का यह जोड़ा अपने गृहस्थ कार्यों के प्रति अत्यधिक समर्पित था। उनके हृदय भावनात्मक स्नेह से परस्पर बँधे थे, वे एक-दूसरे की चितवनों, शारीरिक गुणों तथा मन की अवस्थाओं से आकृष्ट थे। इस तरह उन्होंने एक-दूसरे को स्नेह से पूरी तरह बाँध रखा था।

तात्पर्य : नर तथा मादा कबूतर एक-दूसरे से इतने आकृष्ट थे कि वे क्षण-भर का भी विछोह सहन नहीं कर सकते थे। इसे भगवद्-विस्मृति अर्थात् निर्जीव पदार्थ के प्रति अनुराग तथा ईश्वर का विस्मरण कहते हैं। जीव को भगवान् से शाश्वत प्रेम होता है, किन्तु विकृत होने पर वही प्रेम मिथ्या भौतिक स्नेह के रूप में दिखता है। इस तरह वास्तविक आनन्द का धूमिल प्रतिबिम्ब ही मिथ्या जीवन की नींव बन जाता है, जो परम सत्य की विस्मृति पर टिका रहता है।

शय्यासनाटनस्थान वार्ताक्रीडाशनादिकम् ।

मिथुनीभूय विश्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

शय्या—लेटते; आसन—बैठते; अटन—चलते-फिरते; स्थान—खड़े होते; वार्ता—बातें करते; क्रीडा—खेलते; अशन—भोजन करते; आदिकम्—इत्यादि; मिथुनी-भूय—दम्पति के रूप में; विश्रब्धौ—एक-दूसरे पर विश्वास करते; चेरतुः—उन्होंने सम्पन्न किया; वन—जंगल के; राजिषु—वृन्दों के कुंजों के बीच।

भविष्य पर निश्छल भाव से विश्वास करते हुए वे प्रेमी युगल की भाँति जंगल के वृक्षों के बीच लेटते, बैठते, चलते-फिरते, खड़े होते, बातें करते, खेलते, खाते-पीते रहे।

यं यं वाञ्छति सा राजन्तर्पयन्त्यनुकम्पिता ।

तं तं समनयत्कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यम् यम्—जो कुछ भी; वाञ्छति—चाहती; सा—वह कबूतरी; राजन्—हे राजन; तर्पयन्ती—प्रसन्न करती हुई; अनुकम्पिता—दया दिखाई गई; तम् तम्—वह-वह; समनयत्—ले आया; कामम्—अपनी इच्छा; कृच्छ्रेण—बड़ी मुश्किल से; अपि—भी; अजित-इन्द्रियः—अपनी इन्द्रियों को वश में करना न सीखा हुआ।

हे राजन्, जब भी कबूतरी को किसी वस्तु की इच्छा होती, तो वह अपने पति की चाटुकारिता करके उसे बाध्य करती और वह स्वयं भारी मुश्किलें उठाकर भी उसे तृप्त करने के लिए वही करता, जो वह चाहती थी। इस तरह वह उसके संग में अपनी इन्द्रियों पर संयम नहीं रख सका।

तात्पर्य : तर्पयन्ती शब्द सूचित करता है कि कबूतरी अपने पति को अपनी मुसकान-भरी चितवनों तथा प्रेम-भरी बातों से मोहने में पटु थी। इस तरह उसकी उत्तम भावनाओं को उभाड़ कर उसने उसे अपना आज्ञाकारी सेवक बना लिया। बेचारा कबूतर अजितेन्द्रिय था अर्थात् उसे अपनी इन्द्रियों पर काबू नहीं था और उसका हृदय स्त्री के सौन्दर्य से द्रवित था। ब्राह्मण अवधूत कबूतरद्वय की यह कथा कह कर अमूल्य उपदेश दे रहा है और बता रहा है कि अनिवार्य विछोह के कारण उन्हें दारुण कष्ट सहना पड़ा। यदि मनुष्य की बुद्धि इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में समर्पित नहीं रहती, तो वह शारीरिक तृप्ति के अज्ञान में डूब जाता है। तब वह मूर्ख कबूतर की तरह हो जाता है।

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णन्ती काल आगते ।

अण्डानि सुषुवे नीडे स्तपत्युः सन्निधौ सती ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

कपोती—कबूतरी; प्रथमम्—प्रथम; गर्भम्—गर्भावस्था; गृह्णन्ती—धारण करती हुई; काले—(प्रसव का) समय के; आगते—आने पर; अण्डानि—अंडे; सुषुवे—दिये; नीडे—घोंसले में; स्व-पत्युः—अपने पति की; सन्निधौ—उपस्थिति में; सती—साध्वी।

तत्पश्चात्, कबूतरी को पहले गर्भ का अनुभव हुआ। जब समय आ गया, तो उस साध्वी कबूतरी ने अपने पति की उपस्थिति में घोंसले में कई अंडे दिये।

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः ।

शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

तेषु—उन अंडों से; काले—समय आने पर; व्यजायन्त—उत्पन्न हुए; रचित—निर्मित; अवयवाः—बच्चों के अंग; हरेः—भगवान् हरि की; शक्तिभिः—शक्तियों से; दुर्विभाव्याभिः—अचिन्त्य; कोमल—मुलायम; अङ्ग—अंग; तनूरुहाः—तथा पंख।

जब समय पूरा हो गया, तो उन अंडों से भगवान् की अचिन्त्य शक्तियों से निर्मित मुलायम अंगो तथा पंखों के साथ बच्चे उत्पन्न हुए।

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

प्रजाः—सन्तान; पुपुषतुः—उन्होंने पाला-पोषा; प्रीतौ—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; दम्-पती—युग्म; पुत्र—अपने बच्चों को; वत्सलौ—दयालु; शृण्वन्तौ—सुनते हुए; कूजितम्—चहचहाना; तासाम्—उन बच्चों की; निर्वृतौ—अत्यन्त सुखी; कल-भाषितैः—भद्दी ध्वनि से।

कबूतर का यह जोड़ा अपने बच्चों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल बन गया और उनकी अढपटी चहचहाहट को सुनकर अत्यन्त हर्षित होता, क्योंकि उन माता-पिता को यह अतीव मधुर लगती। इस तरह वह जोड़ा उन छोटे-छोटे बच्चों का पालन-पोषण करने लगा।

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

तासाम्—छोटे पक्षियों के; पतत्रैः—पंखों द्वारा; सु-स्पर्शैः—छूने में अच्छा; कूजितैः—उनकी चहचहाहट; मुग्ध—आकर्षक; चेष्टितैः—कार्यो से; प्रत्युद्गमैः—फुदकने के प्रयासों से; अदीनानाम्—सुखी (बच्चों) के; पितरौ—माता-पिता; मुदम् आपतुः—हर्षित हो गये।

यें माता-पिता अपने पक्षी बच्चों के मुलायम पंखों, उनकी चहचहाहट, घोंसले के आसपास उनकी कूद-फाँद करना, उनका उछलने और उड़ने का प्रयास करना देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। अपने बच्चों को सुखी देखकर माता-पिता भी सुखी थे।

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतुः प्रजाः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

स्नेह—स्नेह से; अनुबद्ध—बँधे हुए; हृदयौ—हृदयों वाले; अन्योन्यम्—परस्पर; विष्णु-मायया—भगवान् विष्णु की माया से; विमोहितौ—पूर्णतः मोहग्रस्त; दीन-धियौ—मन्द बुद्धि वाले; शिशून्—अपने बच्चों को; पुपुषतुः—पाला-पोषा; प्रजाः—अपनी सन्तान।

स्नेह से बँधे हुए हृदयों वाले ये मूर्ख पक्षी भगवान् विष्णु की माया द्वारा पूर्णतः मोहग्रस्त होकर अपने छोटे-छोटे बच्चों का लालन-पालन करते रहे।

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; जग्मतुः—गये; तासाम्—बच्चों के; अन्न—भोजन; अर्थम्—हेतु; तौ—वे दोनों; कुटुम्बिनौ—परिवार के मुखिया; परितः—चारों ओर; कानने—जंगल में; तस्मिन्—उस; अर्थिनौ—उत्सुकतापूर्वक ढूँढ़ते हुए; चेरतुः—विचरते रहे; चिरम्—काफी समय तक ।

एक दिन परिवार के दोनों मुखिया अपने बच्चों के लिए भोजन तलाश करने बाहर चले गये। अपने बच्चों को ठीक से खिलाने की चिन्ता में वे काफी समय तक पूरे जंगल में विचरते रहे।

दृष्ट्वा तान् लुब्धकः कश्चिद्यदृच्छातो वनेचरः ।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; तान्—उन बच्चों को; लुब्धकः—बहेलिये ने; कश्चित्—कोई; यदृच्छातः—संयोगवश; वने—जंगल में; चरतः—गुजरते हुए; जगृहे—पकड़ लिया; जालम्—जाल को; आतत्य—फैलाकर; चरतः—विचरण करते; स्व-आलय-अन्तिके—उनके घर के पड़ोस में।

उस समय संयोगवश जंगल में विचरण करते हुए किसी बहेलिये ने कबूतर के इन बच्चों को उनके घोंसले के निकट विचरते हुए देखा। उसने अपना जाल फैलाकर उन सबों को पकड़ लिया।

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

कपोतः—कबूतर; च—तथा; कपोती—कबूतरी; च—तथा; प्रजा—उनके बच्चों के; पोषे—पालन-पोषण में; सदा—सदैव; उत्सुकौ—उत्सुकतापूर्वक; गतौ—गये हुए; पोषणम्—भोजन; आदाय—लाकर; स्व—अपने; नीडम्—घोंसले में; उपजग्मतुः—पहुँचे।

कबूतर तथा उसकी पत्नी अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए सदैव चिन्तित रहते थे और इसी उद्देश्य से वे जंगल में भटकते रहे थे। समुचित अन्न पाकर अब वे अपने घोंसले पर लौट आये।

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकान् जालसम्पृतान् ।
तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

कपोती—कबूतरी; स्व-आत्म-जान्—अपने से उत्पन्न; वीक्ष्य—देखकर; बालकान्—बच्चों को; जाल—जाल से; संवृतान्—घिरे हुए; तान्—उनकी ओर; अभ्यधावत्—दौड़ी; क्रोशन्ती—पुकारती हुई; क्रोशतः—चिल्ला रहे हों, जो उनकी ओर; भृश—अत्यधिक; दुःखिता—दुखी।

जब कबूतरी ने अपने बच्चों को बहेलिये के जाल में फँसे देखा, तो वह व्यथा से अभिभूत हो गई और चिल्लाती हुई उनकी ओर दौड़ी। वे बच्चे भी उसके लिए चिल्लाने लगे।

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया ।

स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

सा—वह; असकृत्—निरन्तर; स्नेह—स्नेह से; गुणिता—बँधी; दीन-चित्ता—पंगु बुद्धि वाली; अज—अजन्मा भगवान् की; मायया—माया से; स्वयम्—स्वयं; च—भी; अबध्यत—बँधा लिया; शिचा—जाल से; बद्धान्—बँधे हुए (बच्चों को); पश्यन्ती—देखती हुई; अपस्मृतिः—अपने को भूली हुई।

चूँकि कबूतरी ने अपने को गहन स्नेह के बन्धन से सदा बाँध रखा था, इसलिए उसका मन व्यथा से विहल था। भगवान् की माया के चंगुल में होने से, वह अपने को पूरी तरह भूल गई और अपने असहाय बच्चों की ओर दौड़ती हुई, वह भी तुरन्त बहेलिये के जाल में बँध गई।

कपोतः स्वात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान् ।

भार्या चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

कपोतः—कबूतर; स्व-आत्म-जान्—अपने ही बच्चों को; बद्धान्—बँधा हुआ; आत्मनः—अपनी अपेक्षा; अपि—ही; अधिकां—अधिक; प्रियान्—प्रिय; भार्याम्—अपनी पत्नी को; च—तथा; आत्म-समाम्—अपने समान; दीनः—अभागा व्यक्ति; विललाप—शोक करने लगा; अति-दुःखितः—अत्यन्त दुखी।

अपने प्राणों से भी प्यारे अपने बच्चों को तथा साथ में अपने ही समान अपनी पत्नी को बहेलिये के जाल में बुरी तरह बँधा देखकर बेचारा कबूतर दुखी होकर विलाप करने लगा।

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ।

अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

अहो—हाय; मे—मेरा; पश्यत—देखो तो; अपायम्—विनाश; अल्प-पुण्यस्य—अपर्याप्त पुण्य वाले के; दुर्मतेः—दुर्बुद्धि; अतृप्तस्य—असंतुष्ट; अकृत-अर्थस्य—जिसने जीवन के उद्देश्य को पूरा नहीं किया, उसका; गृहः—पारिवारिक जीवन; त्रै-वर्गिकः—सभ्य जीवन के तीन उद्देश्यों (धर्म, अर्थ तथा काम) वाले; हतः—विनष्ट।

कबूतर ने कहा : हाय! देखो न, मैं किस तरह बरबाद हो गया हूँ। स्पष्ट है कि मैं महामूर्ख हूँ, क्योंकि मैंने समुचित पुण्यकर्म नहीं किये। न तो मैं अपने को संतुष्ट कर सका, न ही मैं जीवन के

लक्ष्य को पूरा कर सका। मेरा प्रिय परिवार, जो मेरे धर्म, अर्थ तथा काम का आधार था, अब बुरी तरह नष्ट हो गया।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी बतलाते हैं कि *अतृप्तस्य* शब्द यह सूचित करता है कि कबूतर अपनी इन्द्रियतृप्ति से तुष्ट नहीं था। यद्यपि वह अपनी पत्नी, बच्चों तथा घोंसले के प्रति पूर्णतया अनुरक्त था, किन्तु वह पूरी तरह से उनको भोग नहीं सका था, क्योंकि ऐसी वस्तुओं से कभी तुष्टि नहीं होती। *अकृतार्थस्य* सूचित करता है कि उसकी इन्द्रियतृप्ति के भावी विस्तार की आशाएँ तथा सपने भी अब नष्ट हो गये थे। लोग सामान्य रूप से “घर, प्रिय घर” की चर्चा अपने घोंसले के रूप में चलाते हैं और वे भविष्य के लिए संचित धन को घोंसले का अंडा कहते हैं। इसलिए भौतिक जगत के प्रेम-पक्षियों को यह जान लेना चाहिए कि उनके तथाकथित बच्चे, पत्नी तथा सम्पत्ति बहेलिये के जाल में खींच लिये जायेंगे। दूसरे शब्दों में, मृत्यु सबकुछ समाप्त कर देगी।

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ।

शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

अनुरूपा—उपयुक्त; अनुकूला—स्वामिभक्त; च—तथा; यस्य—जिसका; मे—मेरा; पति-देवता—जिसने पति को देवता-रूप में पूज्य मान लिया है; शून्ये—रिक्त; गृहे—घर में; माम्—मुझको; सन्त्यज्य—पीछे छोड़कर; पुत्रैः—अपने पुत्रों के साथ; स्वः—स्वर्ग को; याति—जा रही है; साधुभिः—सन्त जैसे।

“मैं तथा मेरी पत्नी आदर्श जोड़ा थे। वह सदैव मेरी आज्ञा का पालन करती थी और मुझे अपने पूज्य देवता की तरह मानती थी, किन्तु अब वह अपने बच्चों को नष्ट हुआ और अपने घर को रिक्त देखकर मुझे छोड़ गई और हमारे सन्त स्वभाव वाले बच्चों के साथ स्वर्ग चली गई।”

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।

जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं; शून्ये—रिक्त; गृहे—घर में; दीनः—दुखी; मृत-दारः—जिसकी पत्नी मर चुकी है; मृत-प्रजः—जिसके बच्चे मर चुके हैं; जिजीविषे—मैं जीवित रहना चाहूँगा; किम् अर्थम्—किस हेतु; वा—निस्सन्देह; विधुरः—विछोह भोगते हुए; दुःख—दुखी; जीवितः—मेरा जीवन।

अब मैं विरान घर में रहने वाला दुखी व्यक्ति हूँ। मेरी पत्नी मर चुकी है, मेरे बच्चे मर चुके हैं। मैं भला क्यों जीवित रहना चाहूँ? मेरा हृदय अपने परिवार के विछोह से इतना पीड़ित है कि मेरा जीवन मात्र कष्ट बनकर रह गया है।

तांस्तथैवावृत्तांशिग्भिर्मृत्युग्रस्तान्विचेष्टतः ।

स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; तथा—भी; एव—निस्सन्देह; आवृत्तान्—घिरे हुए; शिग्भिः—जाल से; मृत्यु—मृत्यु द्वारा; ग्रस्तान्—पकड़े हुए; विचेष्टतः—स्तम्भित; स्वयम्—स्वयं; च—भी; कृपणः—दुखी; शिक्षु—जाल के भीतर; पश्यन्—देखते हुए; अपि—भी; अबुधः—अज्ञानी; अपतत्—गिर पड़ा।

जब पिता कबूतर अपने बेचारे बच्चों को जाल में बँधा और मृत्यु के कगार पर दीन भाव से उन्हें अपने को छुड़ाने के लिए करुणावस्था में संघर्ष करते देख रहा था, तो उसका मस्तिष्क शून्य हो गया और वह स्वयं भी बहेलिए के जाल में गिर पड़ा।

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम् ।

कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; लब्ध्वा—लेकर; लुब्धकः—बहेलिया; क्रूरः—निष्ठुर; कपोतम्—कबूतर को; गृह-मेधिनम्—भौतिकतावादी गृहस्थ; कपोतकान्—कबूतर के बच्चों को; कपोतीम्—कबूतरी को; च—भी; सिद्ध-अर्थः—अपना प्रयोजन सिद्ध करके; प्रययौ—चल पड़ा; गृहम्—अपने घर के लिए।

वह निष्ठुर बहेलिया उस कबूतर को, उसकी पत्नी को तथा उनके सारे बच्चों को पकड़ कर अपनी इच्छा पूरी करके अपने घर के लिए चल पड़ा।

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत् ।

पुष्पान्कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुटुम्बी—परिवार वाला मनुष्य; अशान्त—अशान्त; आत्मा—उसकी आत्मा; द्वन्द्व—भौतिक द्वैत (यथा नर-नारी); आरामः—आनंदित; पतत्रि-वत्—इस पक्षी की तरह; पुष्पान्—पालन-पोषण करते हुए; कुटुम्बम्—अपने परिवार को; कृपणः—कंजूस; स-अनुबन्धः—अपने सम्बन्धियों सहित; अवसीदति—अत्यधिक कष्ट उठायेगा।

इस तरह जो व्यक्ति अपने पारिवारिक जीवन में अत्यधिक अनुरक्त रहता है, वह हृदय में क्षुब्ध रहता है। कबूतर की ही तरह वह संसारी यौन-आकर्षण में आनन्द ढूँढता रहता है। अपने

परिवार का पालन-पोषण करने में बुरी तरह व्यस्त रहकर कंजूस व्यक्ति अपने परिवार वालों के साथ अत्यधिक कष्ट भोगता है।

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम् ।

गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्राप्य—पाकर; मानुषम् लोकम्—मनुष्य-जीवन; मुक्ति—मुक्ति का; द्वारम्—दरवाजा; अपावृतम्—खुला हुआ; गृहेषु—घरेलू मामलों में; खग-वत्—इस कथा के पक्षी की ही तरह; सक्तः—लिप्त; तम्—उसको; आरूढ—ऊँचे चढ़कर; च्युतम्—नीचे गिरते हुए; विदुः—मानते हैं।

जिसने मनुष्य-जीवन पाया है, उसके लिए मुक्ति के द्वार पूरी तरह से खुले हुए हैं। किन्तु यदि मनुष्य इस कथा के मूर्ख पक्षी की तरह अपने परिवार में ही लिप्त रहता है, तो वह ऐसे व्यक्ति के समान है, जो ऊँचे स्थान पर केवल नीचे गिरने के लिए ही चढ़ा हो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत “भगवान् कृष्ण द्वारा उद्धव को उपदेश” नामक सातवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।